

जिनभाषित

वीर निर्वाण सं. 2535



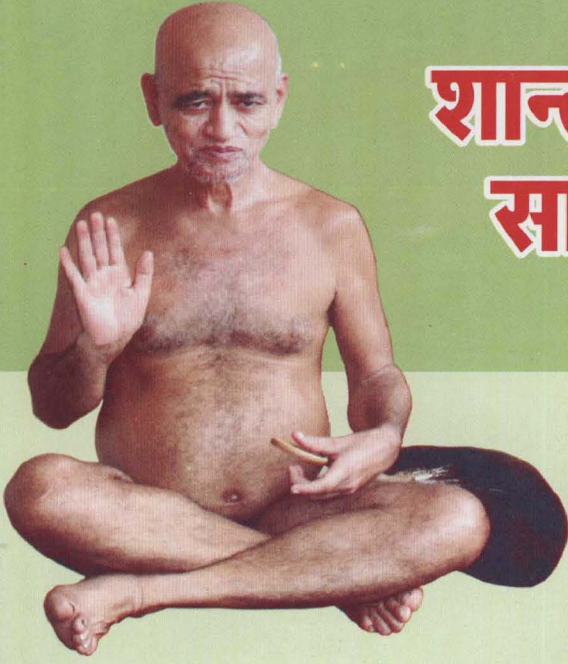
तीर्थकर श्री अजितनाथ जी
श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र
बंधा जी (टीकमगढ़) म.प्र.

ज्येष्ठ, वि.सं. 2066

जून, 2009

शान्तरस का संवेदन सानंद एकान्त में

आचार्य श्री विद्यासागर जी



सह-धर्मी सम
आचार-विचारों पर ही
इस का प्रयोग होता है
इसकी अभिव्यक्ति
मृदु मुस्कान के बिना
सम्भव ही नहीं है।
वात्सल्य-रस के आस्वादन में
हलकी-सी मधुरता....फिर
क्षण-भंगुरता झलकती है
ओस के कणों से
न ही प्यास बुझती, न आस
बुझता बस श्वास का दीया वह!
फिर तुम ही बताओ,
वात्सल्य में शान्त-रस का
अन्तर्भाव कैसा?
माँ की गोद में बालक हो
माँ उसे दूध पिला रही हो
बालक दूध पीता हुआ
ऊपर माँ की ओर निहारता अवश्य,
अधरों पर, नयनों में
और

कपोल-युगल पर।
क्रिया-प्रतिक्रिया की परिस्थिति
प्रतिकलन किस रूप में है-
परीक्षण चलता रहता है
यदि करुणा या कठोरता
नयनों में झलकेगी
कुछ गम्भीर हो
रुदनता की ओर मुड़ेगा वह,
अधरों की मन्द मुस्कान से
यदि कपोल चंचल स्पन्दित होते हों
ठसका लेगा वह!
यही कारण है, कि
प्रायः माँ दूध पिलाते समय-
अपने अंचल में
बालक का मुख छिपा लेती है।
यानी,
शान्त-रस का संवेदन वह
सानन्द-एकान्त में ही हो
और तब
एकाकी हो संवेदी वह...!
रंग और तरंग से रहित
सरवर के अन्तरंग से
अपने रंगहीन या रंगीन अंग का
संगम होना ही संगत है
शान्त-रस का यही संग है
यही अंग!

मूकमाटी (पृष्ठ १५७-१५९) से साभार

जिनभाषित

सम्पादक
प्रो. रतनचन्द्र जैन

कार्यालय

ए/2, मानसरोवर, शाहपुरा
भोपाल- 462 039 (म.प्र.)
फोन नं. 0755-2424666

सहयोगी सम्पादक

पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया, मदनगंज किशनगढ़
पं. रतनलाल बैनाड़ा, आगरा
डॉ. शीतलचन्द्र जैन, जयपुर
डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत
प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ
डॉ. सुरेन्द्र जैन 'भारती', बुरहानपुर

शिरोमणि संरक्षक

श्री रतनलाल कैवलाल पाटनी
(मे. आर.के.मार्बल)
किशनगढ़ (राज.)
श्री गणेश कुमार राणा, जयपुर

प्रकाशक

सर्वोदय जैन विद्यापीठ
1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
आगरा-282 002 (उ.प्र.)
फोन : 0562-2851428, 2852278

सदस्यता शुल्क

शिरोमणि संरक्षक	5,00,000 रु.
परम संरक्षक	51,000 रु.
संरक्षक	5,000 रु.
आजीवन	1100 रु.
वार्षिक	150 रु.
एक प्रति	15 रु.

सदस्यता शुल्क प्रकाशक को भेजें।

अन्तस्तत्त्व

पृष्ठ

- ◆ काव्य : शान्तरस का संवेदन सानंद एकान्त में
: आचार्य श्री विद्यासागर जी आ.पृ. 2
- ◆ मुनि श्री क्षमासागर जी की कविताएँ आ.पृ. 3
- ◆ मुनि श्री योगसागर जी की कविताएँ आ.पृ. 4
- ◆ सम्पादकीय : 'दृष्टिवाद' में वर्णित लौकिकशास्त्र
परसमय (अजैनशास्त्र) हैं 2
- ◆ प्रवचन : कालद्रव्य प्रभावक नहीं (तृतीय अंश)
: आचार्य श्री विद्यासागर जी 9
- ◆ लेख
 - एकमात्र जिनेन्द्रदेव ही सच्चे देव हैं
: स्व० पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री 16
 - तत्त्वार्थसूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द का विश्लेषणात्मक
विवेचन (पंचम अंश) : पं० महेशकुमार जैन, व्याख्याता 18
 - जैनधर्म में सरस्वती-उपासना
: प्रो० सागरमल जैन 22
 - निगोदिया जीव एवं आधुनिक विज्ञान
: डॉ० अशोककुमार जैन, ग्वालियर 24
 - स्थान बदलती पुस्तकें : डॉ० कपूरचन्द्र जैन 27
 - आशावादिता : डॉ० सुरेन्द्रकुमार जैन 'भारती' 29
- ◆ कविता : मैं हूँ वो नहीं : मुनि श्री प्रणम्यसागर जी 26
- ◆ जिज्ञासा-समाधान : पं. रतनलाल बैनाड़ा 30
- ◆ समाचार 15, 17, 21, 23

लेखक के विचारों से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

'जिनभाषित' से सम्बन्धित समस्त विवादों के लिये न्यायक्षेत्र भोपाल ही मान्य होगा।

‘दृष्टिवाद’ में वर्णित लौकिकशास्त्र परसमय (अजैन शास्त्र) हैं

भगवान् की दिव्यध्वनि से निःसृत द्वादशांगश्रुत के बारहवें अंग दृष्टिवाद में मन्त्रतन्त्रशास्त्र, निमित्तशास्त्र, ज्योतिःशास्त्र, चिकित्साशास्त्र (आयुर्वेद), कलाशास्त्र, शिल्पशास्त्र, वास्तुशास्त्र, कामशास्त्र, नृत्यशास्त्र, गीतशास्त्र, गणितशास्त्र आदि लौकिकशास्त्रों का वर्णन है। यथा- दृष्टिवाद में पाँच अधिकार हैं : परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इनमें चूलिका पाँच प्रकार की है- जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता इनके लक्षण इस प्रकार हैं-

जलगता चूलिका

१. “---जलगता--- जलगमण-जलत्थंभणकारण-मंतंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि।” (धवला / पु० १/१, १, २/पृ० ११४)।

अनुवाद- जलगता चूलिका में जल में गमन और जलस्तम्भन के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चर्यारूप अतिशय का वर्णन है।

२. “तत्थ जलगया जलत्थंभण-जलगमणहेतुभूदमंत-तंत-तवच्छरणाणं अगिगत्थंभण-भक्खणासण-पवणादिकारणपओए च वण्णेदि।” (जयधवला / भाग १ / पृ. १२७)।

अनुवाद- जलगता चूलिका जलस्तम्भन और जल में गमन के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का तथा अग्नि का स्तंभन, अग्नि का भक्षण, अग्नि पर बैठना और अग्नि पर तैरना इत्यादि क्रियाओं के कारणभूत प्रयोगों का वर्णन करती है।

३. “तत्र जलगतायां--- जलगमनहेतवो मन्त्रौषध-तपोविशेषा निरूप्यन्ते।” (धवला / पु० १/४, १, ४५/पृ० २०९)।

अनुवाद- जलगता चूलिका में जलगमन के हेतुभूत मन्त्र, औषध और तपोविशेष का निरूपण है।

४. “तत्र जलस्तम्भन-जलवर्षणादिहेतुभूतमन्त्र-तन्त्रादिप्रतिपादिका--- जलगता चूलिका।” (तत्त्वार्थवृत्ति/ १/२०/पृ. १४९ आ० सुपाश्र्वमती जी)।

अनुवाद- जल को रोकने, जल को वर्षाने आदि के हेतुभूत मन्त्रतन्त्रादि का जो प्रतिपादन करती है, वह जलगता चूलिका है।

स्थलगता चूलिका

१. “थलगया णाम--- भूमिगमण-कारणमंतंततवच्छरणाणि, वत्थुविज्जं, भूमिसंबंधमण्णं पि सुहासुहकारणं वण्णेदि।” (धवला / ष.खं० / पु० १/१, १, २/पृ० ११४)।

अनुवाद- स्थलगता चूलिका---पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणरूप आश्चर्य आदि का, वास्तुविद्या का और भूमि सम्बन्धी अन्य शुभाशुभ कारणों का वर्णन करती है।

२. “स्थलगतायां---योजनसहस्रादिगतिहेतवो विद्या-मंत्र-तंत्रतपोविशेषा निरूप्यन्ते।” (धवला / ष. खं. / पु. १/४, १, ४५/पृ. २१०)।

अनुवाद- स्थलगता चूलिका में हजारों योजन जाने की कारणभूत विद्या, मंत्र, तंत्र और तपविशेषों का निरूपण किया जाता है।

३. “थलगया कुलसेलमेरु-महीहर-गिरि-वसुंधरादिसु चटुलगमणकारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणं वण्णणं कुणइ।” (जयधवला / क. पा. / भा. १ / पृ. १२७)।

अनुवाद- स्थलगता नाम की चूलिका कुलाचल, मेरु, महीधर, गिरि और पृथ्वी आदि पर चपलतापूर्वक (शीघ्र) गमन के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है।

मायागता चूलिका

१. “मायागया---इंद्रजालं वण्णेदि।” (धवला/ष.खं./पु.१/१,१,२/पृ.१४४)।

अनुवाद- मायागता चूलिका माया अर्थात् इन्द्रजाल (जादू) के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरण का वर्णन करती है।

२. “मायागतायां--- मायाकरणहेतुविद्या-मन्त्र-तन्त्र-तपांसि निरूप्यन्ते।” (धवला/ष.खं./पु.१/४, १,४५/पृ.२१०)।

अनुवाद- मायागता चूलिका में माया (जादू) करने की हेतुभूत विद्या, मन्त्र, तंत्र और तप का निरूपण किया जाता है।

रूपगता चूलिका

१. “रूपगया---सीह-हय हरिणादि-रूपायरेण परिणमणहेदु-मन्त्र-तंत-तवच्छरणाणि, चित्त-कट्टु-लेप्य-लेण-कम्मादिलक्खणं च वण्णेदि।” (धवला/ष.खं./पु.१/१,१,२/पृ. ११४)।

अनुवाद- रूपगता चूलिका में सिंह, घोड़ा हरिणादि के रूपाकार में परिणमन के हेतु मन्त्र, तंत्र और तपश्चरण का तथा चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्म आदि के लक्षण का वर्णन करती है।

२. “रूपगतायां---चेतनाचेतनद्रव्याणां रूपपरावर्तनहेतुविद्या-मन्त्र-तंत्रतपांसि नरेन्द्रवाद-चित्र-चित्रा-भासादयश्च निरूप्यन्ते।” (धवला/ष.खं./पु.१/४, १,४५/पृ.२१०)।

अनुवाद- रूपगता चूलिका में चेतन और अचेतन द्रव्यों के रूप बदलने की कारणभूत विद्या, मन्त्र, तंत्र एवं तप का तथा नरेन्द्रवाद, चित्र और चित्राभासादि का निरूपण किया जाता है।

३. “रूपगता चूलिका सिंहकरितुरग---तपश्चरणादीन् चित्रकाष्ठलेप्योत्खननादिलक्षण-धातुवाद-रसवाद-खन्यावादादींश्च वर्णयति।” (गो.जी./जी.त.प्र./भाग २/गा.३६१-३६२)।

अनुवाद- रूपगता चूलिका सिंह, हाथी घोड़ा --- आदि के रूप बदलने में कारणभूत मन्त्र, तंत्र तपश्चरण आदि का तथा चित्र, काष्ठ, लेप्य, उत्खनन आदि के लक्षण एवं धातुवाद, रसवाद तथा खन्यावाद (खदान सम्बन्धी शास्त्र) का वर्णन करती है।

आकाशगता चूलिका

“आकाशगतायां---आकाशगमनहेतुभूत-विद्या-मन्त्र-तंत्र-तपोविशेषा निरूप्यन्ते।” (धवला/ष.खं./पु.१/ ४,१,४५/पृ.२१०)।

अनुवाद- आकाशगता चूलिका में आकाशगमन की कारणभूत विद्या, मन्त्र, तंत्र व तपविशेष का निरूपण किया जाता है।

दृष्टिवाद के पूर्वगत नामक अधिकार में चौदह पूर्वों का वर्णन है। उनमें से १०वें विद्यानुवादपूर्व, ११वें कल्याणवादपूर्व, १२वें प्राणावाय (प्राणावाद) पूर्व एवं १३वें क्रियाविशालपूर्व में निम्नलिखित लौकिक शास्त्रों का वर्णन है-

विद्यानुवाद पूर्व

“विज्जाणुवादं णाम पुब्बं--- अङ्गुष्ठप्रसेनादीनां अल्पविद्यानां सप्तशतानि, रोहिण्यादीनां महाविद्यानां पञ्चशतानि अन्तरिक्ष-भौमाङ्ग-स्वर-स्वप्न-लक्षण-व्यञ्जनछिन्नान्यष्टौ महानिमित्तानि च कथयति।” (धवला/ष.खं./पु. १/१,१,२/पृ.१२२)।

अनुवाद- विद्यानुवादपूर्व अंगुष्ठप्रसेना आदि सात सौ अल्पविद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का, और अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण व्यञ्जन एवं चिह्न, इन आठ महानिमित्तों का वर्णन करता है।

कल्याणवादपूर्व

“कल्लाण-णामधेयं णाम पुव्वं---रविशशिनक्षत्रतारागणानां चारोपपादगतिविपर्यय-फलानि शकुनिव्याहृतमहद्धलदेव-वासुदेव-चक्रधरादीनां गर्भावतरणादि महाकल्याणानि च कथयति।” (धवला / ष.खं. / पु.१ / १,१,२ / पृ. १२२)।

अनुवाद- कल्याणवादपूर्व में--- सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागणों के चारक्षेत्र (भ्रमणक्षेत्र), उपपादस्थान गति, वक्रगति तथा उनके फलों का, पक्षियों के शब्दों का और अरहंत (तीर्थकर) बलदेव, वासुदेव तथा चक्रवर्ती आदि के गर्भावतार आदि महाकल्याण का वर्णन है।

आचार्य वीरसेन ने धवला (ष.खं./पु.१/पृ. १२२ एवं पु. १/पृ. २२२) में आठ महानिमित्तों को विद्यानुवादपूर्व के अन्तर्गत बतलाया है, किन्तु जयधवला (भाग १/पृ. १३२) में कल्याणवादपूर्व के अन्तर्गत निरूपित किया है।

प्राणावायपूर्व

१. “पाणावायं णाम पुव्वं--- कायचिकित्साद्यष्टाङ्गमायुर्वेदं, भूतिकर्म जाङ्गलिप्रक्रमं प्राणापानविभागं च विस्तरेण कथयति।” (धवला / ष.खं. / पु.१ / १, १, २ / पृ. १२३)।

अनुवाद- प्राणावायपूर्व---शरीरचिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म (शरीर आदि की रक्षा के लिए किये गये भस्मलेपन, सूत्रबन्धनादि कर्म), जांगुलिप्रक्रम (विषविद्या) और प्राणायाम के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन करता है।

“शरीरभाण्डकरक्षार्थं भस्मसूत्रादिना यत्परिवेष्टनकरणं तद् भूतिकर्म।” (प्र. सा. पू. पृ. १८१ / धवला / ष. खं. / पु.१ / पृ.१२३ / पा.टि.)।

२. “प्राणानामावादः प्ररूपणमस्मिन्निति प्राणावादं द्वादशं पूर्वं, तच्च कायचिकित्साद्यष्टाङ्गमायुर्वेदं भूतिकर्म जाङ्गलिकप्रक्रमम् इला-पिङ्गला-सुषुम्नादि-बहुप्रकारप्राणापानविभागं दशप्राणानाम् उपकार-कापकारकद्रव्याणि गत्याद्यनुसारेण वर्णयति।” (गो. जी. / भा. २ / गा. ३६५-३६६ / पृ. ६११)।

अनुवाद- प्राणों का आवाद (कथन) जिसमें हैं, वह प्राणावाद नामक बारहवाँ पूर्व है। वह कायचिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, जननकर्म, जांगुलिप्रक्रम, गणित, इला, पिंगला, सुषुम्ना आदि अनेक प्रकार के श्वासोच्छ्वास के विभाग का तथा दस प्राणों के उपकारक-अपकारक द्रव्य का गति आदि के अनुसार वर्णन करता है।

आयुर्वेद के आठ अंग- ‘शालाक्यं कायचिकित्सा, भूततन्त्रं, शल्यम् अगदतन्त्रं रसायनतन्त्रं बालरक्षा, बीजबद्धनमिति आयुर्वेदस्य अष्टाङ्गानि।’ (जयधवला / क.पा. / भाग १ / पृष्ठ १३५)।

“भूत, यक्ष, राक्षस और पिशाच आदि से जन्य बाधा के निवारण का कथन करनेवाला शास्त्र भूततन्त्र कहा जाता है। इसमें सभी प्रकार के देवों आदि को शान्त करने की विधि बतलाई गई है।” (विशेषार्थ/ जयधवला / क.पा. / भाग १ / पृ.१३५)।

क्रियाविशालपूर्व

१. “किरियाविसालं णाम पुव्वं--- लेखादिका द्वासप्ततिकलाः स्त्रैणांश्चतुःषष्टिगुणान् शिल्पानि काव्यगुणदोषक्रियां छन्दोविचिति-क्रियां च कथयति।” (धवला / ष.खं. / पु. १ / १, १, २ / पृ. १२३)।

अनुवाद- क्रियाविशाल नाम का पूर्व--- लेखन आदि ७२ कलाओं का, स्त्रीसम्बन्धी ६४ गुणों का, शिल्पकला का, काव्य-सम्बन्धी गुणदोषविधि का और छन्दनिर्माणकला का वर्णन करता है।

२. “किरियाविसालो णट्ट-गेय-लक्खण-छंदालंकार-संढित्थिपुरिसलक्खणादीणं वण्णणं कुणइ।” (जयधवला / क.पा. / भा.१ / पृ. १३५)।

अनुवाद- क्रियाविशाल नामक पूर्व में नृत्यशास्त्र, गीतशास्त्र, लक्षणशास्त्र, छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र और नपुंसक, स्त्री तथा पुरुष के लक्षण आदि का वर्णन है। (संगीतशास्त्र, शिल्पादिविज्ञान-गो. जी. / जी. त. प्र./

गाथा ३६६ / पृ. ६११)।

उपर्युक्त सभी शास्त्र परसमय (अजैन शास्त्र) हैं

यहाँ प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त शास्त्र जिनेन्द्रदेव के मुख से निकले हैं, तो क्या ये जैनों के लिए मान्य हैं, क्या ये जैनसिद्धान्त (षड्द्रव्यों, सात तत्त्वों और कर्मसिद्धान्त के जिनोपदिष्ट स्वरूप) पर आधारित हैं? क्या उनमें वर्णित विषय जैनों के लिए श्रद्धा के योग्य है, क्या उनमें वर्णित मंत्र-तंत्र के प्रयोग तथा उनके प्रभाव से जलस्तंभन भूमिप्रवेश, आकाशगमन, इन्द्रजाल (जादू), मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि के प्रयोग जैनधर्मसम्मत और मनुष्य के लिए हितकर हैं? तीर्थंकर केवल तीर्थ (मोक्षमार्ग) का उपदेश देते हैं, अतः उनके द्वारा प्रणीत शास्त्र केवल वही होते हैं, जिनके अध्ययन, चिन्तन, मनन और तदुक्त आचरण से कर्मों का क्षय होता है। वे कहते भी हैं कि ज्ञानियों को केवल उसी शास्त्र के विषय का ध्यान करना चाहिए, उसी के अनुसार आचरण करना चाहिए और उसी का चिन्तन करना चाहिए, जिससे जीव और कर्मों के सम्बन्ध का विच्छेद होता है-

तद्ध्यं तदनुष्ठेयं तद्विचिन्त्यं मनीषिभिः।

यज्जीवकर्मसम्बन्धविश्लेषायैव जायते ॥ ४०/११ / ज्ञानार्णव।

तीर्थंकरों को मन्त्रतन्त्र, ज्योतिष, अष्टांगनिमित्त, आयुर्वेद, संगीत, नृत्य, काम आदि विषयक लौकिक शास्त्रों के प्रणयन की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि प्रथम तो वे मोक्ष के हेतु नहीं हैं, दूसरे वे लोक में लौकिक जनों के द्वारा ही प्रणीत होते हैं और सदा प्रचलित रहते हैं, जैसा कि श्री ब्रह्मदेवसूरि ने कहा है-

“वीतरागसर्वज्ञप्रणीतागमार्थाद्बहिर्भूतैः कुदृष्टिभिर्यत्प्रणीतं धातुवाद-खन्यवाद-हरमेखल-क्षुद्रविद्या-व्यन्तरविकुर्वाणादिकमज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं दृष्ट्वा---।” (द्रव्यसंग्रहटीका / गा. ४१ / पृ. १५६)।

यहाँ ‘दृष्टिवाद’ की रूपगता चूलिका में वर्णित धातुवाद, रसवाद, खन्यवाद आदि सम्बन्धी मंत्र-तंत्र को मिथ्यादृष्टियों द्वारा प्रणीत जिनागमबाह्य शास्त्र कहा गया है।

इसलिए प्रश्न उठता है कि चूँकि उपर्युक्त मन्त्रतन्त्रादि शास्त्र भगवान् की दिव्यध्वनि से उद्भूत हुए हैं और द्वादशांगश्रुत में उन्हें स्थान भी मिला है, तो क्या उनका अध्ययन और तदुक्त आचरण जीव और कर्मों के विश्लेष का कारण है? यदि नहीं है, तो भगवान् ने उनका प्ररूपण क्यों किया और द्वादशांग श्रुत में उन्हें स्थान क्यों मिला? इस प्रश्न का समाधान आचार्य वीरसेन ने वक्तव्यता के तीन भेद बतलाकर किया है।

वक्तव्यता के तीन भेद

आचार्य वीरसेन ने धवला (पु.१/१, १, १/पृ. ८३) एवं जयधवला टीका (भाग १/गा.१/पृ. ८८-८९) में कहा है कि “वक्तव्यता (कथन) तीन प्रकार की होती है- स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और तदुभयवक्तव्यता। जिस शास्त्र में स्वसमय (स्वमत) का ही वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है अथवा विशेषरूप से ज्ञान कराया जाता है, उसे स्वसमयवक्तव्य कहते हैं और उसके भाव को स्वसमयवक्तव्यता। परसमय (परमत) मिथ्यात्व को कहते हैं- “परमसयो मिच्छन्तं।” (धवला/ष.खं./पु.१/पृ. ८३)। उसका जिस प्राभूत या अनुयोग में वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है या विशेषज्ञान कराया जाता है, वह परसमयवक्तव्य कहलाता है और उसका भाव परसमयवक्तव्यता। जहाँ स्वसमय और परसमय दोनों का निरूपण करके परसमय को दोषयुक्त दिखलाया जाता है और स्वसमय की स्थापना की जाती है, उसे तदुभयवक्तव्य कहते हैं और उसके भाव को तदुभयवक्तव्यता।” (धवला/ष.खं./पु.१/१, १, १/पृ. ८३)।

वीरसेन स्वामी कसायाहुड (भाग १) की जयधवला टीका में श्रुत के ग्यारह अंगों को तो स्वसमय घोषित करते हैं- “जेणेवं तेणेक्कारसण्हमंगाणं वत्तव्वं ससमओ।” (ज.ध./क.पा./भा.१/पृ. १२०), किन्तु बारहवें अंग दृष्टिवाद को ‘तदुभय’ अर्थात् स्वसमय और परसमय दोनों बतलाते हैं- “तदो दिट्ठिवादस्स

वक्तव्यं तदुभयो।” (ज. ध. / क.पा. / १ / पृ. १३६)।

इसका स्पष्टीकरण करते हुए अनुवादक विद्वानों ने ‘विशेषार्थ’ में कहा है- “स्वसमय, परसमय और तदुभय के भेद से वक्तव्यता तीन प्रकार की है, इसका पहले कथन कर ही आये हैं। जिसमें केवल जैन मान्यताओं का वर्णन किया गया हो, उसका वक्तव्य स्वसमय (जैनमत) है। जिसमें जैनबाह्य मान्यताओं का कथन किया गया हो, उसका वक्तव्य परसमय (अजैनमत) है। और जिसमें परसमय का विचार करते हुए स्वसमय की स्थापना की गई हो, उसका वक्तव्य, तदुभय है। इस नियम के अनुसार आचार आदि ग्यारह अंग और सामायिक आदि चौदह अंग स्वसमय वक्तव्यरूप ही हैं, क्योंकि इनमें परसमय का विचार न करते हुए केवल स्वसमय की ही प्ररूपण की गयी है। तथा दृष्टिवाद अंग तदुभयरूप है, क्योंकि एक तो इसमें परसमय का विचार करते हुए स्वसमय की स्थापना की गयी है, दूसरे आयुर्वेद, गणित, कामशास्त्र आदि अन्य विषयों का भी कथन किया गया है।” (जयध्वलासहित कसायपाहुड / पृ. १३६)।

इसका अभिप्राय यह है कि दृष्टिवाद में जो मोक्ष में अनुपयोगी मन्त्रतन्त्रशास्त्र, निमित्तशास्त्र, ज्योतिःशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, (आयुर्वेद), कामशास्त्र, नृत्यशास्त्र, गीतशास्त्र, कलाशास्त्र, शिल्पशास्त्र, वास्तुशास्त्र, गणितशास्त्र आदि वर्णित हैं, वे परसमय हैं अर्थात् अजैनशास्त्र या मिथ्याशास्त्र हैं।

स्वसमयवक्तव्यता को दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए श्वेताम्बर आचार्य श्री हरिभद्रसूरि लिखते हैं-

“तत्र यस्यां (वक्तव्यतायां)--- स्वसमयः स्वसिद्धान्तः आख्यायते यथा पञ्च अस्तिकायाः, तद्यथा-धर्मास्तिकाय इत्यादि, तथा प्रज्ञाप्यते यथा गतिलक्षणो धर्मास्तिकाय इत्यादि, तथा प्ररूप्यते यथा स एवासंख्यातप्रदेशात्मकादिस्वरूपः, तथा दर्शयते दृष्टान्तद्वारेण यथा मत्स्यानां गत्युपष्टम्भकं जलमित्यादि --- तथैवैषोऽपि जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भक इत्यादि--- सेयं स्वसमयवक्तव्यता।” (अनुयोगद्वार/हरिभद्रटीका / अभिधानराजेन्द्रकोश / भाग ६ / पृ. ८३२ / जयध्वलासहित कसायपाहुड / भा.१ / पृ. ८८ / पा.टि.)।

अनुवाद- जिस वक्तव्यता में स्वसमय अर्थात् स्वसिद्धान्त का कथन किया जाता है, जैसे पाँच अस्तिकाय हैं इत्यादि, इस प्रकार प्रज्ञापन किया जाता है, जैसे धर्मास्तिकाय का लक्षण गतिहेतुत्व है, इस प्रकार प्ररूपण किया जाता है, जैसे वह असंख्यातप्रदेशी आदि है, तथा दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझाया जाता है कि जैसे जल मछलियों के चलने में सहायक होता है, वैसे ही धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों की गति में सहायक है---ऐसी वक्तव्यता स्वसमयवक्तव्यता है।

यद्यपि मंत्रतंत्र, ज्योतिष, अष्टांगनिमित्त, आयुर्वेद, वास्तुविद्या आदि शास्त्रों में उक्त प्रकार से न तो स्वसमय (जैनसिद्धान्त : षड्द्रव्य, सात तत्त्वादि) का वर्णन है, न परसमय (अजैन मत के सिद्धान्तों) का, इसलिए उक्त शास्त्रों को न तो स्वसमय कहा जा सकता है, न परसमय। तथापि उनमें स्वसमय (जैन सिद्धान्त) का कथन न होने की अपेक्षा उन्हें परसमय कहा गया है। उक्त शास्त्रों का किसी मतविशेष के अनुयायियों से सम्बन्ध नहीं है, वे सभी मतावलम्बियों में समान हैं। उनकी उत्पत्ति विशिष्ट लौकिक जनों के द्वारा हुई है और सभी लोगों के लौकिक जीवन में वे कथंचित् उपयोगी होते हैं। अतः जैन-अजैन सभी सम्प्रदायों में उनका यथायोग्य उपयोग किया जाता है तथा वे गृहस्थों के लिए कथंचित् उपादेय, किन्तु मुमुक्षुओं के लिए सर्वथा हेय होते हैं, यही बतलाने के लिए दृष्टिवाद में उनका वर्णन है तथा इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थावस्था में अपने गृहस्थ पुत्रों को उनकी शिक्षा दी थी।

दुःश्रुति, बाह्यशास्त्र, लौकिकशास्त्र

उक्त तथ्य को दृष्टि में रखते हुए आचार्य ज्ञानसागर जी ने जयोदय महाकाव्य में गृहस्थों के लिए उनका अध्ययन कथंचित् उपयोगी बतलाकर कहा है कि ये शास्त्र ऋषियों की भाषा में दुःश्रुति कहे गये हैं- “आर्षवाच्यपि दुःश्रुतीरिमाः---।” (जयोदय महाकाव्य / पूर्वार्ध / सर्ग २ / श्लोक ६३)। आचार्य ज्ञानसागर जी ने आगे कहा है-

“निमित्तशास्त्र आदि भी भगवान् की वाणी से उद्भूत हुए हैं, तो भी वे प्रथमानुयोग आदि शास्त्रों के समान आदरणीय नहीं हैं। देखो, मस्तक भी शरीर का अंग है और पैर भी, फिर भी पैर मस्तक के समान श्रेष्ठ अंग नहीं माने जाते।”-

नानुयोगसमयेष्विवादादः स्यान्निमित्तकमुखेषु भो नर!

वाक्तव्या समुदितेषु चाहतां मूर्धवत् क्व पादयोः सदङ्गता ॥

(जयोदय / पूर्वार्ध / २ / ६४)

आचार्य ज्ञानसागर जी आगे कहते हैं- “समझदार मनुष्य को याद रखना चाहिए कि भगवान् अरहंत की वाणी में भी जानने योग्य, प्राप्त करने योग्य और छोड़ने योग्य, ऐसा तीन तरह का कथन आता है। माताएँ अपने छोटे बच्चों को डराने के लिए ‘बुचि आयी’ आदि शब्द कहा करती हैं, तो माता के मुँह से ये शब्द निकले हैं, ऐसा मानकर क्या वे संग्रह करने योग्य होते हैं? (वे तो सुनकर भूल जाने योग्य होते हैं।)”-

ज्ञाप्यमाप्यमथ हाप्यमप्यदः श्रीगिरोऽपि समियाद्वशंवदः।

मातुरुच्चरणमात्रतो वुचीत्यादि सङ्कलितुमेति किन्नुचित् ॥ (वही / २ / ६५)।

इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है कि दृष्टिवाद अंग में वर्णित उपर्युक्त परसमय (अजैन शास्त्र) जिनप्रणीत नहीं है, अपितु परप्रणीत अर्थात् लोकप्रणीत ही हैं। जिनेन्द्रदेव ने उनका कथन मात्र किया है और इसका प्रयोजन है, मुमुक्षु के लिए उन्हें त्याज्य बतलाना।

अपराजितसूरि ने भी उपर्युक्त शास्त्रों को बाह्यशास्त्र कहा है-

“स्त्रीपुरुषलक्षणं निमित्तं, ज्योतिर्ज्ञानं, छन्दः, अर्थशास्त्रं, वैद्यं, लौकिक-वैदिकसमयाश्च बाह्यशास्त्राणि।”

(भगवती-आराधना / विजयोदया टीका / गाथा ६१३ / पृ. ४२१)।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा के टीकाकार शुभचन्द्र ने भी उक्त लौकिक शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन-चिन्तन को निष्फल बतलाते हुए परसमय अर्थात् बाह्यशास्त्र घोषित किया है। यथा-

“तस्य पुंसः स्वाध्यायः शास्त्राध्ययनं निष्फलं विद्धि---यः पुमान् युद्ध-कामशास्त्रं पठति पाठयति चिन्तयति च। युद्धशास्त्रं--- गजाश्वपरीक्षा-नरनारीलक्षणसामुद्रिक-ज्योतिष्क-वैद्यक-मन्त्रतन्त्रौषधि-यन्त्रादिशास्त्रं कामशास्त्रं वा रसायन-कुक्कोश-स्त्री सेवादिषु श्रुतं कामक्रीडासनशास्त्रम् अध्येति परान् अध्यापयति अध्यासयति। कीदृक् सन्? रागद्वेषाभ्यां परिणतः--- लोकवञ्चनार्थं प्रतारणनिमित्तम्।” (का.अ. / टीका / गा. ४६४)।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार आचार्य जयसेन ने भी मन्त्रतन्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि शास्त्रों को लौकिकशास्त्र बतलाते हुए उनका अध्ययन, अध्यापन और प्रयोग करनेवाले निर्ग्रन्थों को लौकिक मुनि कहा है-

“वस्त्रादिपरिग्रहहितत्वेन निर्ग्रन्थोऽपि--- वर्तते यदि--- ऐहिकैः कर्मभिः, भेदाभेदरत्नत्रयभावनाशकैः ख्यातिपूजालाभनिमित्तैर्ज्योतिष-मन्त्रवादि-वैदिकादिभिरैहिकजीवनोपायकर्मभिः स लौकिको व्यावहारिक इति भणितः।” (तात्पर्यवृत्ति / प्रवचनसार / ३ / ६९)।

ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्र ने विद्यानुवादपूर्व के मन्त्रों को कुमार्ग और कुध्यान का हेतु बतलाया है और कहा है कि बहुत से मुनियों ने केवल कुतूहल के लिए अर्थात् चमत्कार दिखाने की इच्छा से उन्हें ग्रन्थों में प्रकट किया है-

बहूनि कर्माणि मुनिप्रवीरैर्विद्यानुवादात्प्रकटीकृतानि।

असंख्यभेदानि कुतूहलार्थं कुमार्गकुध्यानगतानि सन्ति ॥ ४० / ४१ / ज्ञानार्णव।

बृहद्द्रव्यसंग्रह-टीकाकार ब्रह्मदेवसूरि ने भी ज्योतिष, मन्त्रतन्त्र आदि के प्रयोग का उद्देश्य प्रयोजनविशेष से अज्ञानियों के चित्त में चमत्कार उत्पन्न करना बतलाया है- “अज्ञानिजन-चित्तचमत्कारोत्पादकं

ज्योतिष्कमन्त्रवादादिकं दृष्ट्वा---।” (द्र.सं./टीका/गाथा ४१)।

कुछ आधुनिक जैन वास्तुशास्त्री तर्क देते हैं कि वास्तुविद्या को वीरसेन स्वामी ने धवलाटीका में द्वादशांगश्रुत के अन्तर्गत बतलाया है और आदिपुराण (पर्व १६/श्लोक १२२) में आचार्य जिनसेन ने कहा है कि भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थावस्था में अपने पुत्र अनन्तविजय को विश्वकर्मा के मत (तक्षककर्म = बड़ईकर्म) और वास्तुविद्या (वास्तुकारकर्म) की शिक्षा दी थी, अतः वास्तुविद्या स्वसमय (जैनशास्त्र) है।

यह तर्क तर्कसंगत नहीं है। पूर्व में सोदाहरण सिद्ध किया गया है कि जिस शास्त्र में षड्द्रव्य, सात तत्त्व आदि जैनसिद्धान्तों का वर्णन होता है, उसे ही स्वसमय (जैनशास्त्र) कहा गया है। वास्तुशास्त्र में इन जैनसिद्धान्तों का वर्णन नहीं है, अतः वह स्वसमय नहीं, अपितु परसमय (अजैनशास्त्र) है। यह तथ्य भी सामने लाया गया है कि द्वादशांगश्रुत के दृष्टिवाद अंग में केवल स्वसमय का कथन नहीं है, परसमय का भी कथन है और उसमें वर्णित मन्त्रतन्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, वास्तुविद्या, नृत्य, गीत, चित्रकला, कामशास्त्र आदि परसमय हैं, जिन्हें जैनाचार्यों ने दुःश्रुति, बाह्यशास्त्र, एवं लौकिक शास्त्र नामों से अभिहित किया है। अतः वास्तुविद्या को स्वसमय (जैनशास्त्र) कहना उक्त आगमप्रमाणों के विरुद्ध है।

दृष्टिवाद में इन्द्रजाल (जादू), मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि सम्बन्धी बहुरूपिणी, कात्यायनी आदि विद्याओं तथा नृत्यशास्त्र, गीतशास्त्र, कामशास्त्र आदि का भी कथन है। तथा भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत को नृत्यशास्त्र, वृषभसेन को गान्धर्वशास्त्र (संगीतविद्या) और बाहुबली को धनुर्वेद तथा कामशास्त्र की शिक्षा दी थी। (आदिपुराण/पर्व १६/श्लोक ११९-१२४)। अतः उपर्युक्त तर्क से इन शास्त्रों को भी स्वसमय (जैनशास्त्र) मानना होगा। यदि इन्हें स्वसमय नहीं माना जा सकता, तो वास्तुशास्त्र को भी स्वसमय नहीं माना जा सकता। परसमय होते हुए भी जैन गृहस्थों के लिए उनका अध्ययन आदि सर्वथा हेय नहीं है, स्मरणीय सिर्फ यह है कि वे सब बाह्यशास्त्र या लौकिक शास्त्र हैं।

चूँकि वास्तुविद्या स्वसमय (जैनशास्त्र) नहीं है, अतः भगवान् ऋषभदेव द्वारा पढ़ाई गयी वास्तुविद्या में जैनतत्त्वविज्ञान एवं जैनकर्मसिद्धान्त की दृष्टि से कोई भी प्ररूपण होना असंभव है। धवला और आदिपुराण में भी वास्तुविद्या का केवल नामोल्लेख है, उसके किसी विशिष्ट स्वरूप का प्रतिपादन नहीं किया गया है, अतः स्पष्ट है कि वास्तुविद्या में केवल विविध भवनों की वैज्ञानिक एवं आकर्षक निर्माण-शैलियों की दृष्टि से ही सारा वर्णन रहा होगा। आधुनिक टेक्निकल संस्थानों में पढ़ाये जानेवाले आर्किटेक्चर का जो स्वरूप है, वैसा ही स्वरूप धवला और आदिपुराण में उल्लिखित वास्तुविद्या का भी समझना चाहिए। जैसे आधुनिक आर्किटेक्चर (architecture) परसमय (लौकिकशास्त्र) होते हुए भी, सभी गृहस्थों के लिए उपयोगी है, वैसे ही उक्त ग्रन्थों में वर्णित वास्तुविद्या परसमय होते हुए भी, जैन-अजैन सभी के लिए उपयोगी रही होगी। जैसे आधुनिक आर्किटेक्चर (वास्तुकला) में मनुष्यों को अदृश्यरूप से हानि-लाभ, सुख-दुःख पहुँचानेवाली या अपमृत्यु-अनपमृत्यु का कारण बननेवाली कोई दैवी या ईश्वरीय शक्ति अन्तर्निहित नहीं है, वैसे ही प्राचीन वास्तुविद्या में भी उसका अन्तर्निहित होना असंभव है।

रतनचन्द्र जैन

1
बुलबुले-नादाँ जरा रंगे-चमन से होशियार।
फूल की सूरत बनाये सैकड़ों सैयाद हैं।

2
नतीजा कुछ भी हो लेकिन हम अपना काम करते हैं।
सबेरे ही से दूरन्देश फ़िक्रे-शाम करते हैं।
-यगाना चंगेजी

इस प्रवचन के प्रथम एवं द्वितीय अंश आप 'जिनभाषित' के गत अकों में पढ़ चुके हैं। यहाँ तृतीय अंश प्रस्तुत है।

व्यवहारकाल

छह कारकों में काल को किस रूप में स्वीकारा गया है? उदाहरण के तौर पर काल का विश्लेषण करें, तो जैसे कुम्भकार के चाक के नीचे एक कील है, वैसे ही कील की भाँति काल उपस्थित है। वहाँ घूमने का काम काल का नहीं है। जैसे कहा है-

“सूरज चाँद छिपे निकले ऋतु फिर-फिर कर आवे” काल नहीं आता, ऋतु आती है। ऋतु का नाम काल नहीं है, काल के ऊपर आरोप आता है। इसी प्रकार आपने जैसे कहा कि मध्याह्न-काल आप किसको कहते हैं?

एक बहुत अच्छा बिन्दु पकड़ा आपने। छह आवश्यकों में सामायिक का काल निर्धारित किया गया है। काल निर्धारित नहीं किया गया है। चूँकि छह आवश्यक निर्धारित किये गये हैं। अतः काल के माध्यम से ये ज्ञात हो जाते हैं। इनके माध्यम से वह काल जो निश्चय काल से उत्पन्न हो रहा है, समयादिक उसका ज्ञापन होता है। इससे ज्यादा और कुछ भी नहीं कहा है।

बारह बजे हैं। ये बारह बजे क्या वस्तु है? काल हमेशा पकड़ में नहीं आनेवाली चीज है। बारह बज गये, इसका अर्थ घंटी लग गई। यह पुद्गल की परिणति है और हमने बुद्धि को पकड़ रखा है। सुबह उठे, वन्दना की, फिर इसके उपरांत स्वाध्याय किया, फिर इसके उपरांत आहार-चर्या की उतना काल छोड़ा, काल छोड़ा का अर्थ दूसरा कोई आवश्यक उसमें नियुक्त न हो जाय, यह काल के ऊपर सिर्फ आरोप है, इसके अलावा यदि काल को पकड़ना चाहते हो तो पकड़ो। 'तिलोयपण्णत्ति' आदि ग्रन्थों में जो उल्लेख मिलता है कि स्वर्गों में काल पकड़ में नहीं आता, चूँकि वहाँ पर रात भी नहीं, दिन भी नहीं। दिन ही है वहाँ पर, दिन है, तो वहाँ पर काल का व्यवहार कैसा होता होगा, उनको सोना (शयन) है ही नहीं। उनको (देवों को) निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि आदि महानिद्राओं का उदय है ही नहीं, उदीरणा भी नहीं होती। केवल निद्रा का उदय है। उससे प्रभावित

होकर वे सोते नहीं।

चौबीस घंटा वहाँ पर यह काम चलता रहता है। वहाँ पर चौबीस घंटे कैसे चलते हैं? यहाँ के चौबीस घंटे वहाँ पर चलते हैं। ये जितने भी काल, व्यवहारकाल हैं, वे जीव और पुद्गल के परिणमन पर आधारित हैं। कुन्दकुन्द देव से लेकर अकलंकदेव तक न्यायविद् जितने भी आचार्य हैं, सबने इसी रूप से स्वीकार किया है।

व्यवहार काल की उत्पत्ति हम लोगों के द्वारा नहीं होती, किन्तु हमें केवल उसका ज्ञान होता है। घड़ी का काँटा वहाँ से खिसका, एक घंटा हो गया। किन्तु वह परिणमन इस काँटे में हुआ, न कि काल में, काल तो अनन्त काल से विद्यमान है। काल आता है, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि उसके पास पैर नहीं हैं। परिणमन करता है। स्थान से स्थानान्तर नहीं जाता, इसका नाम काल है।

इसलिए यह मान लो कि अपहरण के माध्यम से यहाँ पर 'सिद्ध' हो सकता है। यहाँ के कालाणु काम करेंगे, अन्यथा वहाँ के मुनिराजों को कालाणुओं को साथ में लेकर आना पड़ेगा। क्योंकि वहाँ पर (विदेह क्षेत्र आदि में) काल का परिवर्तन नहीं होता है। काल का वहाँ पर कुछ प्रभाव है ही नहीं, हमेशा हमेशा मुक्ति है।

अपहरण के द्वारा यहाँ पर भी पञ्चम काल में मुक्ति होती है और आज भी वहाँ पर विजयार्थ की तलहटी में चतुर्थ काल चल रहा है। वहाँ पर जाकर अभी भी मुक्ति हो सकती है। उन्होंने कहा, विजयार्थ के कोने में ऐसी व्यवस्था है। यदि आपको चाहिए, तो सबसे अच्छा है। क्योंकि आप लोग ज्योतिर्लोक जाने की तैयारी कर रहे हैं। तो सबसे अच्छा है कि विजयार्थ को पकड़ो। वहाँ पर मुक्त हो सकते हैं, लेकिन ध्यान रखना, आप लोग मुक्त नहीं हो सकते हैं।

यहाँ पर न योग्य संगति मिलती है और न ही आपके पास तत्सम्बन्धी सामग्री मिलती है, इसलिए मुक्ति नहीं मिल सकती। काल के ऊपर आप चिन्तन कीजिये।

बहुत अच्छा आपका प्रश्न है, हमारे आवश्यकों में काल नहीं आता। उम्र को गिनने के लिए तो स्थिति-बंध हुआ हुआ और उस स्थिति को बतानेवाला काल है। क्योंकि परिणमन हमारे अन्दर हो रहा है। 'ज्या वयोहानौ' हमारे जीवन की, जो कुंजी या कारण उसको बोलना चाहिए।

आयु-कर्म के एक-एक निषेक प्रतिसमय उसकी क्वान्टिटी और क्वालिटी के साथ निर्जरित हो रहे हैं। क्षय को प्राप्त हो रहे हैं। उसके माध्यम से वह नापा जा रहा है। हाँ इतने काल के बाद वे कर्म अंश रहेंगे कैसे? इसलिए काल के ऊपर आरोप आ रहा है। वह तो शुद्ध वर्गणा जैसा है।

शुक्ल लेश्यावाला पर्दा है। उसी प्रकार की प्रवृत्ति काल द्रव्य की है। किन्तु उस पर्दे के ऊपर फिल्म की छाया पड़ रही है। इसलिए आप उसी को सब कुछ मान रहे हैं। खेल समाप्त हुआ, फिर कोई नहीं बैठता। उस कार्य का भ्रम है आप लोगों को, वह कार्य काल के द्वारा संचालित है, ऐसा नहीं। अन्य द्रव्य जो (मैटर) पुद्गल और जीव हैं, ये अशुद्ध हैं। इनकी अशुद्धियों का प्रभाव सब लोगों पर पड़ रहा है। वे ही कारण प्रत्यय बन जाते हैं और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि-आदि का जो विभाजन हो रहा है, यह सब कर्मों की देन है, काल की देन नहीं। इन सबमें जो सामान्य रूप से परिणमन का कारण है, वह काल है।

'वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य' (त.सू.५/२२) यह कहा, लेकिन यह ध्यान रखना, प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायों को पैदा करने की क्षमता, उपादान शक्ति, योग्यता स्वयं रखता है। उसके उद्घाटन में वह कालद्रव्य निमित्त होने से वर्तयिता इस प्रकार कहा जाता है। वस्तुतः अपने आप में काल द्रव्य वर्तयिता नहीं हो सकता।

इसका स्पष्टीकरण सभी ग्रन्थों में दिया गया है। काल को उदासीन कारण कहा जाता है। कोई भी कार्य चाहे सांसारिक हो या मुक्तिमार्ग संबंधी हो, वे सारे-के-सारे कर्मों पर ही आधारित हैं।

चेतनात्रय में कालचेतना नहीं

चौथी बात यह है कि अपने यहाँ तीन चेतना बताई गई हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कर्म-चेतना, कर्मफल-चेतना और ज्ञान चेतना का वर्णन पञ्चास्तिकाय में गाथा ३८-३९ में किया है। मैं इस समय इतना ही

कहना चाहता हूँ कि काल चेतना को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। यदि काल चेतना स्वीकार की होती तो बहुत अद्भुत बात हो जाती। लेकिन वह है नहीं, इसलिए उसको उन्होंने स्वीकार तक नहीं किया। काल के विषय में चिन्तन हो रहा है, यह निश्चित बात है। चिन्तन भी बिना काल के नहीं हो सकता। काल के द्वारा हो रहा है, ऐसा नहीं 'कारीषोऽग्नि' जैसे उदासीन रूप से उस कार्य में सहयोग करती है। उसी प्रकार देखो, उपाध्याय परमेष्ठी का काम 'कारीषोऽग्निः' से हुआ नहीं कह सकते, तो काल से हुआ कैसे कह सकते हैं? 'विद्या कालेन पच्यते' इसका क्या अर्थ है? सुनो महाराज! बहुत संक्षेप में हम कहना चाहते हैं। आपने जो कुछ भी खा लिया, उसी समय पचता नहीं। कोई भी परिवर्तन होता नहीं। औदारिक शरीर को धारण करनेवाले की अपेक्षा से कहा है। उसी प्रकार ज्यों ही आपने ग्रहण कर लिया, त्यों ही वह शक्ति का रूप धारण कर लेता है, ऐसा भी नहीं। क्षयोपशम दशा में क्रम से वह प्रौढ़ता आती चली जाती है, एक समय में नहीं आ सकती। काल का अर्थ वहाँ पर कुछ परिणमन हो और आपकी योग्यता में, क्षयोपशम में परिणमन हो, आदि-आदि अपेक्षित है। यह उपादान की योग्यता के लिए काल पर आरोप दिया है। एक छोटी सी बात कहकर समाप्त कर देता हूँ।

जैसे खिचड़ी आधा घंटे में पकती है, सुन लिया न, आधा घंटे में खिचड़ी पकती है, तो क्या करना चाहिए? और कुछ नहीं, दाल मिला दो, चावल मिला दो, पानी मिला दो, घोल रख दो, और अग्नि पर रख दो, और बंद कर दो, आधा घंटे में देख लेना पक जायेगी। एक व्यक्ति ने सुन लिया और रख दी खिचड़ी पकने, दूसरे व्यक्ति ने इसका आशय समझ लिया। ठीक है, उसने स्टोव या सिगड़ी के ऊपर ले जाकर रख दी। और आधा घंटे में आ जाना 'विद्या कालेन पच्यते' इसी तरह 'खिचड़ी कालेन पच्यते' पक गई।

अब वह देखता है अरे! क्यों नहीं पकी? गलत है 'विद्या कालेन पच्यते' ऐसा नहीं। 'काल' आधा घंटा जो रखा, उसे सिगड़ी के ऊपर रखना चाहिए। तब खिचड़ी पकती है। 'कालेन पच्यते', काल के द्वारा ही कार्य हो रहा है। इसलिए न मूँग डालो, न चावल डालो, न पानी डालो और रख दो 'पच्यते खिचड़ी'। नहीं पकी, इसलिए काल को हौआ न बनाओ।

शंका- ज्योतिष शास्त्र आदि का जितना कार्य है, ग्रह, नक्षत्र आदि इस मुहूर्त में होना चाहिए। इस मुहूर्त में गमन करना चाहिए, काल को देखकर ही सारा कार्य किया जाता है, यदि इनको न मानें तो ज्योतिष की क्या उपयोगिता रहेगी?

समाधान- सुनो, हमने काल का निषेध तो नहीं किया। हमने पहले बताया था कि चाक की कील की भाँति काल है।

कील को काल की उपमा दी गई है या चाक को या कुंभकार को या कुंभकार के हाथ को, किसको काल की उपमा दी है बताओ, सुनो, समयसार तो सभी लोग पढ़ते हैं। लेकिन कारण कार्य की व्यवस्था में उनका बिल्कुल ढीला काम है। यह काल की देन नहीं है, यह ध्यान रखना, हमारी बुद्धि की देन है।

काललब्धि

धवला जी का वाचन हो रहा था। प्रश्न हुआ कि उपशम सम्यग्दर्शन कब प्राप्त होता है? अनादि मिथ्यादृष्टि को कब होता है? जिस समय अर्धपुद्गल-परावर्तन-काल अवशिष्ट रहता है, तब वह उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। ज्यादा अवशिष्ट हो तो नहीं। यह एक नाप-तौल काल के माध्यम से कह दिया। किन्तु काललब्धि कितने प्रकार की होती है? आप लोगों ने कभी सुना, पंडित जी! आप बताओ, काललब्धि कितने प्रकार की होती है? हमें पता नहीं, हर व्यक्ति कहता है। काल लब्धि, सर्वार्थसिद्धि आप पढ़िये, उसमें लिखा हुआ है-

'तत्र काललब्धिस्तावत्- कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथम-सम्यक्त्व-ग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति इयमेका काललब्धिः।'

अपरा कर्मस्थितिका काललब्धिः। उत्कृष्ट-स्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्व-लाभो न भवति। क्व तर्हि भवति? अन्तः कोटाकोटी-सागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्ध-परिणामवशात् सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपम-सहस्रोनायामन्तःकोटाकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। अपरा काललब्धिर्भवापेक्षया। (स. सि. २/३)

अब यहाँ काललब्धि बतलाते हैं- कर्मयुक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्धपुद्गल परिवर्तन नाम के काल के

शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण करने के योग्य होता है। इससे अधिक काल शेष रहने पर नहीं होता, यह एक काल लब्धि है।

दूसरी काल लब्धि का सम्बन्ध कर्मस्थिति से है। उत्कृष्ट स्थितिवाले कर्मों के शेष रहने पर या जघन्य स्थितिवाले कर्मों के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता। तो फिर किस अवस्था में होता है? जब बँधने वाले कर्मों की स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम पड़ती है और विशुद्ध परिणामों के वश से सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागरोपम कम अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्राप्त होती है, तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है।

तीसरी काललब्धि भव की अपेक्षा है।

ये तीन प्रकार की काल लब्धियाँ हैं। उनमें यह काल को नापने की अपेक्षा से आरोपवाली काललब्धि अलग है और कर्मस्थिति को लेकर के जो परिवर्तन होते हैं भाव इत्यादि के, वह अलग है और भवस्थिति को लेकर के काललब्धि अलग है। ऐसी तीन काल लब्धियाँ बताईं।

सम्यग्दर्शन कैसे होता है? तो उत्तर हेतु 'अर्ध-पुद्गलपरावर्तन काल शेष रहने पर होता है', यह रटा हुआ है। अर्धपुद्गलपरावर्तन काल क्या वस्तु है, यह निर्णय बहुत महत्त्वपूर्ण है। स्वाध्याय तो हम करते हैं। लेकिन आज तक निर्णय नहीं हुआ। वर्षों हो गये काल लब्धि के बारे में चर्चा करते। लेकिन यह चर्चा धवला जी आदि के अलावा अन्यत्र कहीं नहीं आती है। यदि आती भी है तो कोई भी रुचिपूर्वक सुनना नहीं चाहता।

धवला ग्रन्थ में यह बात आती है कि यह जीव तीन करणपूर्वक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है और सम्यग्दर्शन के प्राप्त होते ही "अपरीत-संसारो अनन्तो सम्मत्तस्स उवलद्धे" "अनन्तसंसारो छेत्तूण अद्धं पुगलपरिमेत्तं कदा" ये पंक्तियाँ धवलाजी में अनेक बार आई हैं। इनका अर्थ यह है कि यह कार्य काल के द्वारा नहीं हो रहा है।

एक प्वाइन्ट रखा है- अनन्तकाल है संसार का जिसका 'अपरीतो संसारो' 'अनन्तसंसारो' अब वह भव्य जीव, तीन करणों के माध्यम से अनन्त संसार को सम्यग्दर्शन की महिमा से अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र कर देता है।

रहने की बात नहीं कही जा रही है, करने की बात कही जा रही है। करना चाहो तो आज भी कर सकते हो, चाहो तो। परन्तु हम तो काल के ऊपर निर्भर हो चुके हैं। अब क्या करें। भाग्य को कोसना चाहिए, भाग्य में नहीं लिखा, नहीं, यह सब गड़बड़ है। बात करते ही काल आता है।

“अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं, हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्तः, संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः॥”

(स्वयम्भूस्तोत्र-सुपाश्वर्जिनस्तवनम् ३)

समन्तभद्र महाराज गर्जना करते हैं- आ जाते तो पता नहीं क्या करते। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध ये चारों, कर्मों के भेद हैं। काल के माध्यम से उसकी योग्यता इतनी ही रह सकती है। एक्सपायरी डेट... काल की नहीं होती। एक्सपायरी डेट ऑफ काल ...क्या कभी ऐसा लिखा हुआ मिलता है?

काल आदि के माध्यम से यह जाना जाता है, इसलिए काल पर तो यह आरोप आता है। इसके परिणाम के माध्यम से काल ज्ञात हो जाता है। व्यवहारकाल का उत्पत्तिस्त्रोत निश्चय काल है। वस्तुतः यह ध्यान रखना काल कभी भी गणना में नहीं आता। यह हम लोगों की बुद्धियों के माध्यम से 'इतने परिणमन के बाद इतने घंटा होते हैं,' ऐसा हम गणना करके बता देते हैं, वस्तुतः काल की गणना होती नहीं। बुद्धि की अपेक्षा तो गणना हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार कोई एक-एक अणु की गणना नहीं कर सकता, क्योंकि उसका एक-एक परिणमन पर्यायगत है। एकसमयवर्ती पर्याय की गणना नहीं हो सकती। बुद्धि के द्वारा अतीत और अनागत दोनों को मिला कर हमने उसके ऊपर आरोप लगा दिया।

तीन कालों की जब विवक्षा होती है, तब व्यवहार काल, अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल आदि का विश्लेषण किया जा सकता है। वस्तुतः काल का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। यह निश्चित बात है।

शंका- स्वचतुष्टय में जो काल शब्द का प्रयोग हुआ है, वह किस सन्दर्भ में आया है?

समाधान- 'कालस्तु हेयः' इस प्रकार आया है। बाहर पर निर्भर होकर जो देख रहे हैं, उसके लिए कहा है। स्वकाल का अर्थ अपनी योग्यता है और अपने उपादान से वर्तन करने की क्षमता प्रत्येक द्रव्य में है, वही द्रव्य का वर्तयिता है। किन्तु अन्य कारण के बिना उसका

उद्घाटन नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त भी उतना ही सत्य है। इसलिए 'हेतुद्वयाविष्कृतकार्य-लिङ्गा' ऐसा समन्तभद्र महाराज जी ने कहा है। हमारे पास उपादान है, उपादान का परिणमन अपनी योग्यता के अनुसार होता है, परन्तु बाहरी जो कारण हैं, उनके बिना नहीं हो सकता, यह सिद्धान्त है। इसको बिल्कुल स्वीकार कर लेना चाहिए।

धवला जी में काल द्रव्य के बारे में कई बार यह कथन आया है कि यह सम्यग्दर्शन की महिमा है कि अनन्तकाल को उसने अर्ध पुद्गल परावर्तन मात्र कर दिया। 'इसी समय होना था', 'एक समय में होना था'। ये सब चर्चायें आगम से विपरीत हैं। हमको कहने में डर नहीं लगता, आपको डर लगता हो तो अलग बात है।

जीव काल के कारण भ्रमित नहीं होता, मोह के कारण भ्रमित होता है। यदि काल के कारण भ्रमित होते हैं तो सभी को होना चाहिए। काल असंख्यात है अर्थात् असंख्यात कालाणु हैं। क्या कहा, बताओ- काल द्रव्य असंख्यात हैं, जीव अनन्त हैं और पुद्गल अनन्तानन्त हैं। अनन्त आकाश द्रव्य के लिए भी काल नियत है। तो यह सापेक्ष कथन है।

यदि ऐसा होता तो उसके लिए ब्यौरा देते, लेकिन कोई ब्यौरा नहीं मिलता। काल की महिमा नहीं, आत्मा के रत्नत्रय की महिमा है। इसलिए जो व्यक्ति आज सम्यग्दर्शन को निश्चित कर देते हैं वे इसमें लगे हुए हैं कि काल मिल जायेगा तो अर्ध पुद्गल परावर्तन काल को हम किसी भी प्रकार से ठीक कर देंगे। क्या ठीक कर दोगे, कभी ठीक नहीं कर सकते। काल पर निर्भर नहीं होना चाहिए।

“कालः कलिर्वा” इस पंक्ति में आये हुए 'वा' शब्द का अर्थ है कि काल पर ज्यादा थोपो नहीं। 'श्रोतुः' का अभिप्राय और 'प्रवक्तुः' का वचनाऽनय-निरपेक्ष वचन-व्यवहार इनके ऊपर निर्भर है। अर्थ का अनर्थ हम कर सकते हैं। ग्रहण करनेवाला भी कर सकता है। यह उसकी बुद्धि पर निर्भर है। बुद्धि मोह से भ्रमित है, काल के द्वारा नहीं, काल के द्वारा कभी बुद्धि भ्रमित नहीं होती है। अब देखो, एक सम्यग्ज्ञानी है और वहीं पर बैठा एक मिथ्याज्ञानी है। काल दोनों के बीच में एक है। मान लो एक है और असंख्यात तो है ही। वह (कॉमन)

एक होकर भी दोनों तरफ काम कर रहा है। मध्य दीपक बन करके, एक के लिए मिथ्याज्ञान का कारण हो रहा है और एक के लिए सम्यग्ज्ञान का कारण हो रहा है।

अब मिथ्याज्ञानवाला कह रहा है कि मैं क्या कर सकता हूँ। क्योंकि 'कालोडिस्त' आप यह बोल सकते हैं। अब वह सम्यग्दृष्टि कहता है, तुम्हारा भाग्य ही ऐसा है। वह भी सम्यग्दृष्टि है इसलिए कह रहा है। काल आ गया, भाग्य आ गया। बस, ये दोनों एक दूसरे में प्रविष्ट होंगे। दुनिया के कार्यों के लिए तो बुद्धि काम कर रही है। यह निश्चित है कि उसके द्विस्थानीय प्रकृतियों का उदय नहीं होता, तो वह जिनवाणी की प्ररूपणा करने की योग्यतावाला नहीं हो सकता। द्विस्थानीय में स्थान क्या चीज है? न कुण्डलपुर है, न नैनागिरि है, न और कोई चीज है, यह स्थान क्या है? जो कर्मों की अनुभाग शक्ति होती है, उसे स्थान कहते हैं। यदि द्विस्थानीय, त्रिस्थानीय, चतुःस्थानीय अनुभाग बंध है, तो कोई सुन नहीं सकता और सुना भी नहीं सकता। कुछ भी नहीं कर सकता। बस, उसकी चिकित्सा अलग ही होती है। भगवान् भी नहीं कर सकते। कोई भी नहीं कर सकता, इसलिए कर्मसिद्धान्त को लेकर चलना चाहिए। प्रत्येक परिणमन यदि कर्म पर निर्भर है, तो पारिणामिकभाव मोक्षमार्ग में कोई कार्य नहीं करता। यह यदि निश्चित है तो पारिणामिक भावों को ग्रन्थों में किसलिए याद किया है। कारण के रूप में याद नहीं किया, यह ध्यान रखो। पारिणामिकभाव से मुक्ति नहीं मिलती, यह सिद्धान्त है।

हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि पारिणामिक भाव न मुक्ति का कारण है और न बंध का कारण है। औदयिक भाव कथञ्चित् बंध का कारण है और क्षयोपशमिक आदि भाव मुक्ति के कारण हैं। यदि हम कारण-कार्य की व्यवस्था को लेकर चल रहे हैं, तो वहाँ पर काल की बात नहीं कही है। अरे! कर्मोदय ऐसा ही होना था, ऐसा भी नहीं।

शंका- पारिणामिक भाव की क्या उपादेयता है?

समाधान- पारिणामिक भाव की उपादेयता यह है कि हम स्वभाव को यदि दृष्टि में रखते हैं, तो बंध की प्रक्रिया में होनेवाला जो औदयिक भाव है, उसमें कमी आती है। बातें करने से कमी नहीं आती। निश्चय और व्यवहार की चर्चा करने बैठे हैं। पहले एक बात कही थी, कर्म सिद्धान्त के सारे-के-सारे ग्रन्थ रट लिये,

लेकिन उससे भी कुछ नहीं होता। बंध टूटने के लिए कारण, अपने परिणाम और आत्मपुरुषार्थ, वे करने चाहिए। पारिणामिक भाव और काल के द्वारा बंध की प्रक्रिया नहीं टूटती है। ध्यान की विवक्षा में इसकी उपयोगिता ज्यादा कही गई है, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कहीं भी नहीं कही गई है, लेकिन यह विषय काल का चल रहा है। इसलिए बाद में इन सब का स्पष्टीकरण देंगे।

ध्यान एकाग्रता से प्राप्त होता है। अन्य जितने भावों को याद रखते हैं, वे सब कर्मों पर निर्भर होकर रह जाते हैं, कर्मों की ओर दृष्टि जाने में कारण होने से अन्य भावों को अपना ध्येय न बनाकर स्वभाव भाव को अपना ध्येय बनाओ। इस प्रकार समयप्राभृत आदि में कुन्दकुन्द देव ने कहा है। लेकिन उसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कारण नहीं कहा है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय, क्षयोपशम कहा है। उस ध्यान के लिए क्षायिक भाव को भी अपना विषय नहीं बनाया, ऐसा कहा है। क्योंकि क्षायिक भाव को भी स्वभाव भाव नहीं कहा है। नियमसार में शंका उठाई है कि स्वभाव भाव क्या है? केवल जानना देखना ही स्वभाव भाव है, जो त्रैकालिक होता है।

शंका- क्या पारिणामिक भाव और स्वभाव भाव अलग-अलग हैं?

समाधान- जो कर्म निरपेक्ष भाव होता है उसको पारिणामिक भाव कहते हैं।

शंका- ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव और पारिणामिक भाव क्या अलग-अलग हैं?

समाधान- हम यह कहना चाहते हैं कि वह पारिणामिक भाव किसी कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से नहीं होता है। इसलिए उन्होंने ज्ञाता द्रष्टा कहा। यदि केवलज्ञान को ग्रहण करते हैं, तो वह केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है, इसलिए वह कर्मसापेक्ष हो गया। अब काल की विवक्षा में पंडित जी की जो शंका थी उसका निराकरण कर देता हूँ।

प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल आदि जो काल है, वह केवल छह आवश्यकों में फिट करना है और रात्रि संबंधी जो आवश्यक हैं, उनमें फिट करना है। काल को औपचारिक रूप में देकर नाप आदि की अपेक्षा जानना चाहिए। जिस प्रकार ज्वर नापने का थर्मामीटर होता है उसी प्रकार काल को समझना चाहिए, इसके

अलावा और कुछ नहीं।

“निष्क्रियाणि च” इसको आप निष्क्रिय न कहिये। यह सूत्र बहुत अच्छा है। जिस दिशा में आप को निष्क्रिय होना चाहिए उसमें निष्क्रिय होना चाहिए और जिस दिशा में सक्रिय होना चाहिए उसमें सक्रिय होना चाहिए। वह ऐसा कह रहा है। यह बहुत विचित्र है। घड़ा बनाने में कुंभकार निमित्त नहीं और कुंभकार के उपादान कारण से भी घड़ा नहीं बना, कुंभकार के द्वारा भी घड़ा नहीं बना। कमाल हो गया, इसी का नाम कुन्दकुन्द देव का समयसार है। कुंभकार निमित्त नहीं घड़ा बनाने का और जितने भी हैं, वे हैं ही नहीं। अब सोचो कुंभकार निमित्त भी नहीं, उपादान भी नहीं। फिर क्या है?

कुंभकार का योग और उपयोग ही वहाँ पर निमित्त है। हाँ, क्या है यह, सही बात बताओ। एक नहीं १०८ बार समयसार का अध्ययन हुआ। निमित्त कुछ नहीं करता है। निमित्त कौन पकड़ रहा है। उसके योग और उपयोग। योग, उसके हाथ में घड़े का आकार आ गया और उपयोग में घड़े का आकार पहले आया। उपयोग में कुंभ का आकार आया, तभी उसने संकेत दिया हाथों को। हाँ, तो वह मिट्टी का लौंदा आगे है, तो घड़े के रूप में परिणत होगा, नहीं तो नहीं होगा। अब इसमें कोई काल भी नहीं, न कुंभकार है, न ही उपादान, कोई कुछ नहीं। लौंदा उपादान है और कुंभकार निमित्त के रूप में स्वीकार किया है। चूँकि कुंभकार के उपयोग का आधार कुंभकार है और हाथों के लिए कुंभ का आकार जो आया है वही उसके लिए आधार है। उसकी बुद्धि ही सब काम कर रही है। बुद्धि उसी पर निर्धारित है। कुन्दकुन्द देव की जब यह बात सही है, ठीक बारह बजे हैं। बारह बजे का अर्थ क्या है? शयन नहीं करना। आहार करके आये हो, अब कोई दूसरा काम नहीं करोगे।

अपने दिमाग में बहुत अच्छी व्यवस्था रहती है, विश्राम कीजिये आप।

शंका- ‘तत्कृतः कालविभागः’ (त.सू. ४/१४) इस सूत्र की फिर क्या उपयोगिता है, आचार्यश्री?

समाधान- ‘तत्कृतः कालविभागः’ होकर भी, हमारा यह कहना है कि बारह बजे सामायिक का काल है। तो काल आ गया न? तो सामायिक किसके लिए, आप बताओ? श्रोता- मुनिमहाराज के लिए।

आचार्यश्री-(श्रोताओं की ओर) आप लोगों के लिए नहीं? हाँ, कोई बात नहीं। लेकिन मुनि महाराज के लिए, सबके लिए नहीं।

यदि मान लो, आचार्य महाराज परीक्षण करना चाहें कि कौन महाराज क्या कर रहे हैं। मूलाचार में पढ़ लो, आचार्य का क्या लक्षण है, ‘आचरति, परान् आचारयति इति आचार्यः।’ यदि मानलो, शिष्य सोचने लगे कि ‘हमारा भी सामायिक का समय हो गया और बड़े महाराज का भी समय हो गया। बड़े महाराज अब सामायिक छोड़कर आ भी नहीं सकते।’ ऐसा तो नहीं हो सकता, यदि नहीं आ सकते तो परीक्षा कैसे करेंगे। ‘यदि नहीं आयेंगे तो हमारे लिए सब छूट है।’ इसलिए हमारा कहना है कि काल को कहाँ किस रूप में स्वीकार किया है, इस पर चिन्तन करना प्रारंभ कर दो।

शंका- क्या काल का संबंध द्रव्य की कुछ पर्यायों के साथ है?

समाधान- ऐसा है, प्रत्येक द्रव्य में पर्याय पैदा करने की क्षमता है। किन्तु उसका जो बाह्य निमित्त रूप काल है उसका सहयोग नहीं मिलता, तो उसका परिणमन उस रूप में नहीं होता है। यह निश्चित है। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय का अभाव हुआ तो ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने पर भी सिद्धपरमेष्ठी एक बाल मात्र भी आगे नहीं जा सकते। ‘धर्मास्तिकायाभावात्’ (त.सू. १०/८) यह सूत्र है। धर्मास्तिकाय का अभाव होने से गमन का अभाव हो जाता है। यह अकाट्य नियम है। भीतर से उपादान होते हुए भी निमित्त का यदि अभाव है तो परिणमन नहीं करेगा। ‘वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य’ (त.सू. ५/२२) इस सूत्र में पाँच विभाजन किये हैं। जो इस प्रकार हैं-

वर्तना- यह निश्चल काल है, इसमें उपादान की विवक्षा है और परत्वापरत्व, परिणाम और क्रिया ये जितने भी हैं, ये सारे-के सारे व्यवहार काल के प्रतीक हैं। ऐसा सर्वार्थसिद्धि में उल्लेख किया है। निश्चय काल के बिना व्यवहार काल नहीं हो सकता और व्यवहार काल के बिना भी हम यह ज्ञात नहीं कर सकते कि छह आवश्यक कब और कहाँ पर किये जायें। आचार्यों ने आज्ञा दी है, उसका उल्लंघन नहीं करना।

जो वर्तना लक्षणवाला है, वह परमार्थ (निश्चय) काल है। जो द्रव्यपरिवर्तन रूप है, वह व्यवहार रूप

काल होता है और वह परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व से जाना जाता है। जीव तथा पुद्गल की परिवर्तन रूप जो नूतन तथा जीर्ण पर्याय है, उस पर्याय की जो समय, घड़ी आदि रूप स्थिति है, वह स्थिति ही द्रव्यपर्यायरूप व्यवहार काल है। समय तो काल की ही पर्याय है। यदि यह पूछो कि समय काल की पर्याय कैसे है? तो उत्तर यह है कि पर्याय का लक्षण उत्पन्न व नाश होना है। समय भी उत्पन्न व नष्ट होता है इसलिए

पर्याय है। पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती, उस समयरूप पर्याय (व्यवहार) काल का उपादानकारणभूत द्रव्य भी कालरूप ही होना चाहिए।

शंका- स्वसमय और परसमय में जो स्वसमय पद आया है, उसका क्या अभिप्राय है?

समाधान- देखो, यहाँ पर समय का अर्थ आत्मा नहीं काल ग्रहण करना चाहिए।

‘श्रुताराधना’ (पृष्ठ १७-२९) से साभार
क्रमशः ---

कुण्डलपुर में आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का समाधिदिवस सम्पन्न

‘समाधिमरण कार्यों का कार्य नहीं है, जो मरण से नहीं डरता, उसे आत्मा का लाभ होता है, पुनः जन्म नहीं होता, उसी का नाम समाधिमरण है। आचार्यश्री ज्ञानसागर जी महाराज का जीवन साधनामय था, कायाकृश थी, किन्तु काया में रहनेवाली आत्मा का बहुत यश था।’ ये विचार आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने कुण्डलपुर के विद्याभवन में आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के ३७वें समाधिदिवस पर अभिव्यक्त किये। इसके पूर्व मंगलाचरण के उपरांत आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के चित्र का अनावरण विद्वान् श्री मूलचंद्र जी लुहाड़िया किशनगढ़ एवं श्री त्रिलोकचंद्र जी अजमेर ने किया। बड़ेबाबा एवं आचार्यश्री के चित्र के समक्ष ज्ञानज्योति का प्रज्वलन श्री अशोक कुमार जबलपुर एवं आचार्यश्री की आरती का सौभाग्य श्री दीपक जैन दिल्ली एवं उनके परिवार ने प्राप्त किया। अनेक श्रावकों ने इस अवसर पर आचार्यश्री को शास्त्रभेंट करने का सौभाग्य प्राप्त किया।

इस अवसर पर श्रुतआराधना नामक पुस्तक का विमोचन किया गया। सर्वप्रथम विद्वान् मूलचंद्र जी लुहाड़िया ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुये कहा कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज न होते, तो आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज का निर्माण नहीं होता और यदि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज न होते, तो आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का इतना अच्छा समाधिमरण न होता। आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने उनसे शिक्षा लेकर संयम का जो कीर्तिमान स्थापित किया है, उससे इस सदी को उन्हीं के नाम से जाना जाने लगा है। इसके पश्चात् मुनि श्री विनम्रसागर जी महाराज ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति प्रतिपल मृत्यु की और अग्रसर हो रहा है। मृत्यु पर विजय पाना ही सच्चा समाधिमरण है। पूज्य मुनि श्री महासागर जी महाराज ने कहा कि पुण्य न हो, तो पुरुषार्थ भी कार्य नहीं करता। समाधिदिवस जीवन का सर्वोच्च शिखर है। मुनि श्री शांतिसागर जी महाराज ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में संस्कारों का बीजारोपण कर लेना चाहिए। इसके उपरांत अभिनंदन सागर जी महाराज ने कहा कि जीवनभर की साधना का प्रतिपल समाधिमरण है। संसारी प्राणी को सबसे अधिक मृत्यु का भय होता है। समाधिमरण से वह अभय को प्राप्त करता है।

आचार्यश्री ने अंत में कहा कि जब शरीर का छूटना होता है, तभी हमें आत्मा का लाभ होता है। सुमरण तभी होता है जब प्रभु सुमरन किया जाता है। आत्मा न कभी मरती है न ही जन्म लेती है। आत्मा के परिचय के लिये दूसरी आत्मा की आवश्यकता नहीं होती। आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज की स्मृतियाँ हमारे जीवन में चेतन मूर्ति की तरह रहेंगी।

सुनील वेजीटेरियन

एक मात्र जिनेन्द्र ही सच्चे देव हैं

स्व० पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री

जैन मन्दिरों में प्रतिदिन सबसे प्रथम देव-शास्त्र-गुरु की ही पूजा की जाती है। पं० द्यानत राय जी कृत पूजा की स्थापना का पद्य इस प्रकार है-

प्रथम देव अरहन्त सुश्रुत सिद्धान्तजु।
गुरु निर्ग्रन्थ महन्त मुक्तिपुर पन्थ जु।
तीन रतन जगमाहिं सु ये भवि ध्याईये।
तिनकी भक्ति प्रसाद परम पद पाईये।

अर्थात् अरहन्त देव, द्वादशांगश्रुतरूप सिद्धान्त और महान निर्ग्रन्थ गुरु मुक्ति रूपी नगरी के राहगीर हैं, जगत में ये तीन रत्न हैं। भव्य जीवों को इनका ध्यान करना चाहिये और उनकी भक्ति के प्रसाद से परम पद मोक्ष प्राप्त करना चाहिये।

इन तीन रत्नों में प्रथम रत्न अरहन्त देव हैं, जो वीतरागी सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं। एक मात्र यह जिनेन्द्र देव ही सच्चे देव हैं। जिसकी ऐसी श्रद्धा है वही सच्चा जैन है। और जिसकी देवविषयक श्रद्धा ठीक नहीं है, भले ही वह उन्हें पूजता हो, किन्तु वह सच्चा जैन नहीं है।

देवगति के जो देव हैं, वे तो देवगति नामक कर्म के उदय से देवगति में जन्म लेने से देव हैं। उनमें और सच्चे देव जिनेन्द्र में तो जमीन आसमान का अन्तर है। देवगति के देवों के भी चार भेद हैं- भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिषी और वैमानिक। इन में से आदि के तीन निकृष्ट देव कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि मर कर इनमें जन्म नहीं लेता। पद्मावती-धरणेन्द्र भवनवासी जाति के देव हैं, जो प्रथम नरक के ऊपर पाताल लोक में निवास करते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ के द्वारा दिये गये णमोकारमंत्र के प्रभाव से जलते हुए नाग, नागनी मरकर धरणेन्द्र पद्मावती हुए। कहाँ भगवान् पार्श्वनाथ और कहाँ निकृष्ट जाति के देव धरणेन्द्र-पद्मावती। किंतु लक्ष्मी के लोभी लोग भगवान् पार्श्वनाथ की उपेक्षा करके पद्मावती को पूजते हैं और मन्दिरों में वेदियाँ बनाकर उन्हें स्थापित करते हैं। और हमारे कोई-कोई निर्ग्रन्थ साधु और आर्यिका माता भी कुदेवपूजा का प्रचार करते पाये जाते हैं। वे सांसारिक भोगों की प्राप्ति के लिये भगवान् पार्श्वनाथ को ही पूजने का उपदेश न देकर पद्मावती को पूजने का उपदेश देते हैं और इस तरह

मोक्षपुर के पथिक बनकर मिथ्यात्व का प्रचार करते हैं।

कुदेव कहने से लोग जैनधर्म से विमुख अन्य मतों के देवों को ही कुदेव समझते हैं। वे यह नहीं जानते कि जैनधर्म के उपासक रागी-द्वेषी देव भी कुदेव हैं। सच्चे देव तो एक मात्र वीतरागी अरहन्त देव ही हैं। और वे ही पूज्य हैं। जैनधर्म में रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही पूज्यता के चिन्ह हैं। इन्हीं के कारण आचार्य उपाध्याय और साधु, पूज्य माने गये हैं, क्योंकि वे रत्नत्रय के धारी होते हैं। देवगति के देव देवियों में तो चारित्र का लेश भी नहीं होता, तब पूज्यता का प्रश्न ही नहीं है। देवगति के देवों में भी यदि पूज्य हैं, तो लौकान्तिक देव, सर्वार्थ-सिद्धि के देव और सौधर्म-इन्द्र तथा उसकी इन्द्राणी पूज्य माने जा सकते हैं, क्योंकि ये सब मनुष्यभव धारण करके नियम से मोक्ष जाते हैं।

अतः जैनधर्म संसारमार्गी धर्म नहीं है, मोक्षमार्गी धर्म है। जिन्हे संसार अच्छा लगता है, उनके लिये यह धर्म नहीं है। आचार्य समन्तभद्र ने अपने श्रावकाचार के प्रारम्भ में ही कहा है कि मैं उस सच्चे धर्म का उपदेश करता हूँ, जो कर्मबन्धन का नाशक है और प्राणियों को संसार के दुःख से छुड़ाकर उत्तम सुख से सम्पन्न मोक्ष में धरता है।

किन्तु आज के पंचमकाल में मोक्ष के सुख में आस्था ज्ञानी की ही हो सकती है, अज्ञानी की नहीं। और ज्ञानी, चारित्र धारण करने से नहीं होता, श्रद्धापूर्वक तत्त्वज्ञान से होता है। तत्त्वज्ञान में आत्मा का शुद्ध स्वरूप, उसके अशुद्ध होने के कारण, उन कारणों से छूटने का उपाय ये सब आते हैं। इन सब की श्रद्धापूर्वक जो चारित्र धारण करता है, वही सच्चा धर्मात्मा है और वह धर्मात्मा जिनभक्ति के प्रसाद से संसार के सुखों को अनासक्त भाव से भोगता हुआ क्रम से मोक्ष प्राप्त करता है। क्या पद्मावती आदि शासन देवों की भक्ति करने से यह सब प्राप्त हो सकता है?

भगवान् तीर्थकरों ने हमें बतलाया कि कोई भी देवी-देवता किसी को कुछ भी देने की शक्ति नहीं रखता। देने लेनेवाले तो प्राणी के अपने ही अच्छे बुरे कर्म हैं। बुरे कर्मों का फल बुरा और अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता

है। बबूल के काँटे बने से आम नहीं फलते। और आम का पेड़ लगाने से काँटे नहीं लगते। जगत में तो चोरी बेईमानी को भी फलते फूलते देखते हैं, यहीं कलिकाल का प्रभाव है। जो मनुष्यों को कुपथ पर ले जाकर उन्हें संसारमार्ग का ही पथिक बनाता है।

पद्मावती के उपासकों से हमारा प्रश्न है कि पद्मावती और भगवान् पार्श्वनाथ में बड़ा कौन है? कोई भी पद्मावती का भक्त पद्मावती को भगवान् से बड़ा नहीं कह सकता। जिन भगवान् पार्श्वनाथ के प्रभाव से नाग-नागनी धरणेन्द्र-पद्मावती हुए, उनसे बे बड़े कैसे हो सकते हैं? तब जो फल भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति से प्राप्त हो सकता है, वह फल पद्मावती की भक्ति से कैसे प्राप्त हो सकता है? भगवान् की उपासना सम्यक्त्व की उपासना है और पद्मावती की उपासना मिथ्यात्व की उपासना है। सम्यक्त्व की उपासना का फल सांसारिक भोगों के साथ अन्त में मुक्ति की प्राप्ति है और मिथ्यात्व की उपासना का फल अनन्त संसार है।

दक्षिण ने जहाँ हमें कुन्दकुन्द जैसे महर्षि का अध्यात्म दिया, वहाँ हिन्दूधर्म के प्रभाव से पद्मावती की

पूजा का मिथ्यात्व भी दिया। श्रवणवेलगोला के मठ में भगवान् जिनेन्द्र के गृहों के साथ ही देवी पद्मावती के भी गृह बने हुए हैं। और लोकमूढ़ता देखने को मिलती है।

जैनधर्म में गुणों के अनुराग को भक्ति कहते हैं पद्मावती में देवी होने के कारण कौन ऐसे गुण हैं, जो पूजने योग्य हैं? वह भगवान् पार्श्वनाथ की भक्त है, उसी का फल उसे प्राप्त हुआ है, तो आपको भी भगवान् पार्श्वनाथ का भक्त होना चाहिये न कि देवी का। देवी देवताओं से प्रथम प्रतिमाधारी दार्शनिक श्रावक भी आत्मा की विशुद्धि के कारण बड़ा है। इसी लिये पं० आशाधर जी ने लिखा है कि आपत्ति से व्याकुल होकर भी दार्शनिक श्रावक कभी भी शासन देवों को नहीं पूजता। खेद है कि जैन तीर्थकरों ने देवी-देवताओं के चक्र में फँसे मनुष्यों को देवों से बड़ा बतलाकर देवत्व के पद पर मनुष्य की प्रतिष्ठा की थी, मनुष्य उसे भूलकर पुनः कुदेवों के चक्र में फँसकर अपने संसार को अनन्त बना रहे हैं। यह अनन्त संसार जिनकी भक्ति के प्रसाद से शान्त होता है, वही सच्चे देव पूजनीय हैं।

जैनसन्देश ३ सितम्बर १९८१
(सम्पादकीय) से साभार

श्री बड़ेबाबा के मंदिर का डोम बनाना प्रारंभ

कुण्डलपुर में संतशिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के आशीर्वाद से निर्मित हो रहे बड़ेबाबा के विशाल मंदिर का डोम बनाना प्रारंभ हो गया है। इसके बनने से शीघ्र ही मंदिर का भव्य स्वरूप दिखने लगेगा। मंदिरनिर्माणसमिति के संयोजक श्री वीरेश सेठ के अनुसार डोम फिटिंग का सम्पूर्ण कार्यशिल्प ठेकेदार खीमजी भाई के द्वारा किया जा रहा है, जो कि इस कार्य को शीघ्र पूर्ण करने के लिये कटिबद्ध हैं।

डोम फिटिंग का महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारंभ होने के पूर्व आचार्यश्री से भी आशीर्वाद प्राप्त किया गया। आचार्यश्री ने स्वयं मंदिर के निर्माणस्थल पर पहुँचकर शिल्पकारों को अपना आशीर्वाद प्रदान किया। इस अवसर पर कुण्डलपुर अध्यक्ष संतोष सिंघई के अलावा मंदिर आर्किटेक्ट मनोज सोमपुरा, अयूब खान, खिमजीभाई के साथ मिलकर मंदिर निर्माण कमेटी की दो दिवसीय महत्त्वपूर्ण बैठक आयोजित की गई, जिसमें मंदिरनिर्माण

को लेकर अहम फैसले लिये गये। आचार्यश्री के आगमन से मंदिरनिर्माण में तेजगति आ गयी है। इसे देखते हुये निर्माण कमेटी शीघ्रता से कार्य करने में जुटी है।

सुनील बेजीटेरियन
कुण्डलपुर, जिला- दमोह (म.प्र.)

सिंघई अरिहंत जैन 'दीवान' का सुयश

मोरेना (म०प्र०) ख्यातिलब्ध प्रतिष्ठाचार्य पं० श्री पवन कुमार शास्त्री 'दीवान' के यशस्वी सुपुत्र सिंघई अरिहंत जैन 'दीवान' ने वर्ष २००९ की हाईस्कूल परीक्षा जो कि (हिन्दी माध्यम से परिवर्तित कर) अँग्रेजी माध्यम से दी, उसमें सम्पूर्ण प्रदेश का कुल परीक्षाफल लगभग ३५ प्रतिशत आने के बाबजूद भी ८५ प्रतिशत अंक प्राप्त कर आशातीत सफलता प्राप्त की है। एतदर्थ-आत्मीय परिजन/पुरजन व इष्ट मित्र, शुभ चिन्तकों ने हार्दिक बधाई- शुभकामनाएँ दी हैं।

सिंघई कु० महिमा जैन

तत्त्वार्थसूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द का विश्लेषणात्मक विवेचन

पं० महेशकुमार जैन व्याख्याता

चतुर्थ अध्याय

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशत्पारिषदात्तरक्षलोकपालानीक प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोवार्तिक एवं तत्त्वार्थवृत्ति आदि ग्रन्थों में च शब्द की व्याख्या नहीं की है।

सुखबोधतत्त्वार्थवृत्ति- 'च' शब्दः पूर्वविकल्प-समुच्चयार्थः। एकैकस्य निकायस्यैकशः। ततो न केवलं पूर्वोक्तविकल्पाः। किं तर्ह्येते इन्द्रादयश्च दशविशेषा एकैकस्य निकायस्य भवन्तीति समुदायार्थः।

अर्थ- 'च' शब्द पहले के विकल्पों का समुच्चय करता है। एकशः अर्थात् एक-एक निकाय के, इससे यह अर्थ फलित होता है कि पहले कहे हुए विकल्प ही नहीं, किन्तु ये इन्द्र आदि दस विशेष भी एक-एक निकाय के होते हैं।

भावार्थ- भवनवासी, व्यन्तर आदि में इन्द्र, सामानिक आदि १०-१० भेद भी होते हैं। इसी का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में चकार प्रयुक्त है।

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णक-तारकाश्च ॥१२ ॥

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक एवं श्लोकवार्तिक में 'च' शब्द की व्याख्या नहीं है।

सुखबोधतत्त्वार्थवृत्ति- 'च' शब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थस्ततोऽस्मात् समाद्भूभागादूर्ध्वं सप्तयोजनशतानि नवत्युत्तराण्युत्पत्य सर्वज्योतिषामधो भाविन्यस्तारकाश्चरन्ति। ततो दशयोजनान्युत्पत्य सूर्याश्चरन्ति। ततोऽशीतियोजना-न्युत्पत्य चन्द्रमसो भवन्ति। ततस्त्रीणियोजनान्युत्पत्य नक्षत्राणि पर्यटन्ति। ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य बुधाः। ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य शुक्राः। ततस्त्रीणियोजनान्युत्पत्य बृहस्पतयः। ततश्चत्वारियोजनान्युत्पत्यांगरकाः। ततश्चत्वारियोजनान्युत्पत्य शनैश्चराश्चरन्तीति। स एषः ज्योतिष्कविषयो नभःप्रदेशो दशोत्तरयोजनशतबहलस्तिर्यग्घनोदधि पर्यन्त इति व्याख्येयम्।

अर्थ- सूत्र में 'च' शब्द अनुक्त का समुच्चय करने के लिए है। इस समतल भूभाग से ऊपर ७९० योजन जाकर सर्व ज्योतिष्कों में अधोभावी तारे चलते हैं, उससे १० योजन ऊपर जाकर सूर्य चलते हैं। उसके ८० योजन ऊपर जाकर चन्द्रविमान हैं। उससे ३ योजन ऊपर जाकर नक्षत्र घूमते हैं। उसके ऊपर ३ योजन ऊपर जाकर बुध

है। उसके ३ योजन ऊपर जाकर शुक्र है। उससे ३ योजन ऊपर जाकर बृहस्पति है। उससे ४ योजन ऊपर जाकर मंगल है। उससे ४ योजन ऊपर जाकर शनि है। यह ज्योतिष्क देव सम्बन्धी आकाशप्रदेश है। वह कुल मिलाकर ११० योजन मोटाईयुक्त है और तिरछा घनोदधिवलय पर्यन्त फैला हुआ है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिये।

तत्त्वार्थवृत्ति- चकारः परस्परसमुच्चये वर्तते। तेनायमर्थः न केवलं सूर्याचन्द्रमसौ ज्योतिष्कौ किन्तु ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ज्योतिष्काः वर्तन्ते।

अर्थ- चकार शब्द परस्पर समुच्चय के लिए है, जिससे यह अर्थ है कि केवल सूर्यचन्द्रमा ही ज्योतिष्क नहीं है किन्तु ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे भी ज्योतिषी देव कहलाते हैं।

भावार्थ- ज्योतिष्क देवों के अवस्थान कहाँ-कहाँ हैं, इस कथन का समुच्चय करने के लिए सूत्र में 'च' शब्द दिया गया है।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सुखबोध-तत्त्वार्थवृत्ति, तत्त्वार्थवृत्ति एवं तत्त्वार्थमंजूषा आदि टीकाओं में 'च' शब्द की व्याख्या नहीं की है।

पू० आचार्य विद्यासागर जी- 'च' शब्द होने से, ये स्थिर भी हैं, ऐसा अर्थ लगा लेना चाहिये।

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्महोत्तरलान्तवका-पिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युत-योर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थ-सिद्धौ च ॥ १९ ॥

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सुखबोध-तत्त्वार्थवृत्ति, तत्त्वार्थवृत्ति एवं तत्त्वार्थमंजूषा आदि ग्रन्थों में 'च' शब्द की व्याख्या नहीं की है।

भावार्थ- सूत्र में आये 'च' शब्द का अर्थ 'और' है।

सारस्वतादित्य वह्नयरुणगर्दतोयतुषिताव्याबा-धारिष्ठाश्च ॥ २५ ॥

सर्वार्थसिद्धि- 'च' शब्द समुच्चितास्तेषामन्तरेषु द्वौ देवगणौ। तद्यथा-सारस्वतादित्यान्तरे अग्न्याभसूर्याभाः। आदित्यस्य च बह्नेश्यान्तरे चन्द्राभसत्याभाः। वह्न्यरुणान्तराले

श्रेयस्करक्षेमंकराः। अरुणगर्दतोयान्तराले वृषभेष्टकामचाराः। गर्दतोयतुषितमध्ये निर्माणरजोदिगन्तरक्षिताः। तुषिता-व्याबाधमध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिताः। अव्याबाधारिष्टान्तराले मरुद्वसवः। अरिष्टसारस्वतान्तराले अश्वविश्वाः। सर्वे एते स्वतन्त्राः, हीनाधिकत्वाभावात्।

अर्थ- सूत्र में 'च' शब्द समुच्चय के लिए है, उससे इनके मध्य में २-२ देवगण (समूह) और हैं। यथा- सारस्वत और आदित्य के मध्य में अग्न्याभ और सूर्याभ हैं। आदित्य और वह्नि के मध्य में चन्द्राभ और सत्याभ हैं। वह्नि और अरुण के बीच में श्रेयस्कर और क्षेमंकर हैं। अरुण और गर्दतोय के मध्य में वृषभेष्ट और कामचार हैं। गर्दतोय और तुषित के मध्य में निर्माणरजस् और दिगन्तरक्षित हैं। तुषित और अव्याबाध के मध्य में आत्मरक्षित और सर्वरक्षित हैं। अरिष्ट और सारस्वत के मध्य में अश्व और विश्व हैं। ये सब देव स्वतन्त्र हैं, क्योंकि इनमें हीनाधिकता नहीं पायी जाती है।

राजवार्तिक- 'च' शब्द समुच्चितः तदन्तराल-वर्तिनः। २। तेषामन्तरालेषु 'च' शब्दसमुच्चिता द्वन्द्ववृत्त्या देवगणाः प्रत्येतव्याः। तद्यथा-अग्न्याभसूर्याभचन्द्राभसत्याभश्रेयस्करक्षेमंकरवृषभेष्टकामचरनिर्माणरजोदिगन्तर-क्षितात्मरक्षितसर्वरक्षितमरुद्वस्वश्व-विश्वाख्याः। ३। एते अग्न्याभादयः षोडश देवगणा लौकान्तिकभेदाः कथ्यन्ते।

अर्थ- 'च' शब्द से अन्तरालवर्ती विमानों का संग्रह हो जाता है। उन विमानों के अन्तरालवर्ती विमानों का संग्रह 'च' शब्द से होता है और द्वन्द्ववृत्ति से उन विमानों में रहनेवाले देवगणों को जानना चाहिये। जैसे- अग्न्याभ, सूर्याभ, चन्द्राभ, सत्याभ, श्रेयस्कर, क्षेमंकर, वृषभेष्ट, कामचर, निर्माणरजस्, दिगन्तरक्षित, आत्मरक्षित, सर्वरक्षित, मरुत् वसु, अश्व और विश्व इन नामों के विमान हैं। ये अग्न्याभ आदि षोडश देवगण लौकान्तिक देवों के ही भेद कहे जाते हैं।

श्लोकवार्तिक, सुखबोधतत्त्वार्थवृत्ति, तत्त्वार्थवृत्ति इन तीनों ग्रंथों में तत्त्वार्थसूत्र एवं राजवार्तिक के आधार पर ही लौकान्तिक देवों के भेदों का वर्णन किया गया है।

भावार्थ- सारस्वत, आदित्य आदि लौकान्तिक देवों के विमानों के मध्य में २-२ विमान और हैं। इस प्रकार ८+१६=२४ विमान हो जाते हैं। इन्हीं का समुच्चय करने के लिए सूत्र में 'च' शब्द कहा है।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजया-

दिषु सर्वार्थसिद्धौ च॥ ३२॥

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सुखबोध-तत्त्वार्थवृत्ति में 'च' शब्द की व्याख्या नहीं की गयी है।

तत्त्वार्थवृत्ति- 'सर्वार्थसिद्धौ च' इति पृथक्पदकरण जघन्यस्थितिप्रतिषेधार्थम्। सर्वार्थसिद्धिं गतौ जीवः परि-पूर्णानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भुङ्क्ते। विजयादिषु तु जघन्य-स्थितिर्द्वात्रिंशत्सागरोपमानि।

अर्थ- 'सर्वार्थसिद्धौ च' इस प्रकार पृथक् पद जघन्य स्थिति का निषेध करने के लिए है अर्थात् सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त जीव पूर्ण ३३ सागर प्रमाण आयु का भोग करते हैं, किन्तु विजयादिक में जघन्य आयु ३२ सागर प्रमाण होती है।

भावार्थ- सर्वार्थसिद्धि में ३३ सागर प्रमाण आयु होती है, जघन्य नहीं होती है। इसी का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में 'च' शब्द दिया है।

नारकाणां च द्वितीयादिषु॥ ३५॥

श्लोकवार्तिक में 'च' शब्द की व्याख्या नहीं की है।

सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक- 'च शब्दः किमर्थः? प्रकृतसमुच्चयार्थः। किं च प्रकृतम्? 'परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा' अपरा स्थितिरिति। तेनायमर्थो लभ्यते रत्नप्रभायां नारकाणां परास्थितिरिकं सागरोपमम्। सा शर्कराप्रभायां जघन्या। शर्कराप्रभायामुत्कृष्टा स्थितिस्त्रीणि सागरोपमणि। सा बालुकाप्रभायां जघन्येत्यादि।

अर्थ- शंका- सूत्र में 'च' शब्द किसलिए दिया है? समाधान- प्रकृत विषय का समुच्चय करने के लिए 'च' शब्द दिया है। शंका- क्या प्रकृत है? समाधान- 'परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तरा अपरा स्थितिः' यह प्रकृत है अतः 'च' शब्द से इसका समुच्चय हो जाता है। इसका यह अर्थ प्राप्त होता है कि रत्नप्रभा में नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति जो एक सागरोपम है वह शर्कराप्रभा में जघन्य स्थिति है। शर्कराप्रभा में उत्कृष्ट स्थिति जो ३ सागरोपम है, वह बालुकाप्रभा में जघन्य स्थिति है इत्यादि।

सुखबोधतत्त्वार्थवृत्ति- परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा परा स्थितिरित्येतस्यार्थस्य समुच्चयाश्चशब्दः कृतः।

अर्थ- 'पूर्व-पूर्व की जो उत्कृष्ट स्थिति है वह आगे-आगे जघन्य हो जाती है' इस अर्थ का समुच्चय करने हेतु 'च' शब्द को ग्रहण किया है।

तत्त्वार्थवृत्ति- चकारात् पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा इत्यनुकृष्यते।

तेनायमर्थः स्थूलतया रत्नप्रभायां प्रथमनरकभूमौ नारकाणा-
मुत्कृष्टा स्थितिरैकसागरोपमं प्रोक्तं, सा शर्कराप्रभायां
द्वितीयनरकभूमौ जघन्या वेदितव्या। शर्कराप्रभायां त्रीणि
सागरोपमाणि उत्कृष्टा स्थिति कथिता, सा बालुकाप्रभायां
तृतीयनरकभूमौ जघन्यस्थितिः वेदितव्या इत्यादि, तावत्
सप्तमनरके द्वाविंशतिसागरोपमाणि जघन्या स्थितिर्भवति।

अर्थ- चकार से आगे-आगे पूर्व-पूर्व का अनुकर्षण
करना चाहिये, इसका यह अर्थ है। रत्नप्रभा नामक प्रथम
नरक भूमि में नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति जो १ सागरोपम
कही है वह शर्कराप्रभा नामक द्वितीय भूमि में जघन्य
जानना चाहिये। शर्कराप्रभा में जो उत्कृष्ट आयु ३ सागरोपम
कही है, वह बालुकाप्रभा नामक तृतीय नरकभूमि में जघन्य
आयु जानना चाहिये इत्यादि। इसी प्रकार सप्तम पृथ्वी
में २२ सागरोपम जघन्य स्थिति होती है।

भावार्थ- नारकी जीवों की जघन्य आयु का क्रम
बताने के लिए सूत्र में 'च' शब्द आया है। यथा- प्रथम
पृथ्वी की जो उत्कृष्ट आयु है उसमें १ समय और मिलाने
पर द्वितीय पृथ्वी की जघन्य आयु हो जाती है। द्वितीय
पृथ्वी की जो उत्कृष्ट आयु है उसमें एक समय मिलाने
पर तृतीय पृथ्वी की जघन्य आयु हो जाती है। इस प्रकार
आगे भी जानना चाहिये।

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

श्लोकवार्तिक में 'च' शब्द की व्याख्या नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक- 'च' शब्द किमर्थः?
प्रकृतसमुच्चयार्थः। तेन भवनवासिनामपरास्थितिर्दशवर्ष-
सहस्राणीत्यभिसंबध्यते।

अर्थ- शंका- सूत्र में 'च' शब्द किसलिए दिया
है? समाधान- प्रकृत विषय का समुच्चय करने के लिए।
इससे ऐसा अर्थ घटित होता है कि भवनवासियों की
जघन्य स्थिति १०,००० वर्ष है।

सुखबोधतत्त्वार्थवृत्ति- 'च' शब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थः।
तेन भवनेषु च ये वसन्ति प्रथमनिकायदेवास्तेषां दशवर्ष-
सहस्राणि जघन्या स्थितिरित्यभिसंबध्यते।

अर्थ- 'च' शब्द प्रकृत के समुच्चय के लिए है।
भवनों में रहनेवाले प्रथम निकाय के जो देव हैं, उनकी
जघन्य स्थिति १०,००० वर्ष है ऐसा सम्बन्ध करना चाहिये।

तत्त्वार्थवृत्ति- चकारः अपरा स्थितिरित्यनुकर्षणार्थः।

अर्थ- सूत्र में चकार जघन्य स्थिति का अनुकर्षण
करने के लिए है।

भावार्थ- भवनवासी देवों की जघन्य आयु १०

हजार वर्ष की होती है। चकार से प्रकृत अर्थ फलित
होता है।

व्यन्तराणां च ॥ ३८ ॥

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, सुखबोधतत्त्वार्थवृत्ति- 'च'
शब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थः। तेन व्यन्तराणामपरा स्थितिर्दश-
वर्षसहस्राणीत्यवगम्यते।

अर्थ- सूत्र में 'च' शब्द प्रकृत अर्थ का समुच्चय
करने के लिए दिया गया है। इससे ऐसा अर्थ घटित
होता है कि व्यन्तरों की जघन्य स्थिति १०,००० वर्ष
है।

श्लोकवार्तिक- अपरा स्थितिर्दशवर्षसहस्राणीति
चशब्देन समुच्चयते।

अर्थ- व्यन्तरों की जघन्य स्थिति १०,००० वर्ष
है, 'च' शब्द से इसका समुच्चय हो जाता है।

तत्त्वार्थवृत्ति- व्यन्तराणां किन्नरादीनां दशवर्षसह-
स्राणि जघन्यास्थितिर्भवति। चकारः अपरास्थितिरित्यनु-
कर्षणार्थः।

अर्थ- किन्नर आदि व्यन्तरदेवों की जघन्य स्थिति
१०,००० वर्ष है। सूत्र में आये 'च' शब्द से जघन्य स्थिति
का अनुकर्षण हो जाता है।

भावार्थ- व्यन्तरों की जघन्य स्थिति १० हजार
वर्ष की है यह चकार से जाना जाता है।

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

श्लोकवार्तिक में 'च' शब्द की विवेचना नहीं की
गयी है।

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक- 'च' शब्दः प्रकृत-
समुच्चयार्थः। तेनैवमभिसंबन्धः। ज्योतिष्काणां परा स्थितिः
पल्योपममधिकमिति।'

अर्थ- 'च' शब्द प्रकृत विषय के समुच्चय के
लिए है। जिससे यह अभिसंबन्ध होता है कि ज्योतिषी
देवों की उत्कृष्ट स्थिति साधिक १ पल्योपमप्रमाण है।

सुखबोधतत्त्वार्थवृत्ति- 'च' शब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थ
इत्येवं तेन ज्योतिष्काणां च परा स्थितिः पल्योपमं
सातिरेकमित्यभिसम्बध्यते।

अर्थ- 'च' शब्द प्रकृत के समुच्चय के लिए है।
इससे ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति १ पल्य से
कुछ अधिक है, ऐसा सम्बन्ध हो जाता है।

तत्त्वार्थवृत्ति- चकारः प्रकृतसमुच्चयार्थः। तेन
ज्योतिष्काणां परा स्थितिः पल्योपमाधिकमिति ज्ञातव्यम्।

अर्थ- चकार प्रकृत विषय का समुच्चय करने

के लिए है, इससे ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति साधिक १ पाल्योपम होती है, यह जानना चाहिये।

भावार्थ- ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु साधिक

१ पाल्योपमप्रमाण है। इसका समुच्चय करने के लिए 'च' शब्द ग्रहण किया गया है।

श्री दि० जैन संस्कृति संस्थान
सांगानेर (जयपुर) राजस्थान

प्रो० फूलचन्द्र जैन प्रेमी को अहिंसा

इण्टरनेशनल पुरस्कार

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के जैनदर्शन विभाग में प्रोफेसर डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी को उनके समग्र साहित्यिक योगदान के लिए नई दिल्ली के श्रीराम सेन्टर सभागार में दिनांक २६.०४.०९ को आयोजित भव्य समारोह में अहिंसा इण्टरनेशनल डिप्टीमल आदीश्वर लाल साहित्य पुरस्कार प्रदान किया गया। पूज्य उपाध्याय श्री गुप्तिसागर जी महाराज के सान्निध्य एवं भारी संख्या में उपस्थित संस्कृति प्रेमियों की करतल ध्वनि के बीच यह पुरस्कार श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली के माननीय कुलपति प्रो० वाचस्पति उपाध्याय ने प्रो० जैन को प्रदान किया। श्री प्रताप जैन ने प्रशस्ति पत्र का वाचन किया। अध्यक्ष श्री प्रेमचन्द्र जैन, महासचिव श्री ए०के० जैन एवं श्री अनिल जैन ने इकतीस हजार रुपया की पुरस्कार राशि का चेक, अंगवस्त्र एवं प्रशस्ति पत्र भेंट किया।

सुरेन्द्र कुमार जैन

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदौनी वाराणसी

विद्वद्वर्य डॉ० जयकुमार जैन ऋषभदेव

पुरस्कार से सम्मानित

गाजियाबाद- दि० जैन तीर्थ श्री ऋषभांचल की स्थापना दिवस के शुभ अवसर पर अपार जनसमूह के बीच श्री मोतीलाल जी वीरा सांसद एवं कोषाध्यक्ष कांग्रेस (पूर्व मुख्यमंत्री म०प्र० एवं पूर्व राज्यपाल उ० प्र०) ने माँ श्री कौशल जी के सान्निध्य में सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् डॉ० जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर को त्रयोदश ऋषभदेव पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया।

डॉ० जैन विलक्षण व्यक्तित्व के धनी, सरल स्वभावी विद्वान् हैं। उन्होंने पूर्ण निष्ठा एवं लग्न से धर्म एवं समाज की अनुकरणीय सेवा की है। काशीराज पुरस्कार, महावीर पुरस्कार, फूलचन्द्र सेठी स्मृति पुरस्कार, विद्वद्वरत्न पुरस्कार, श्रुतसंवर्धन पुरस्कार, आचार्य ज्ञानसागर पुरस्कार आदि अनेक पुरस्कारों से सम्मानित डॉ० जैन प्रारंभ से ही प्रतिभाशाली रहे हैं। उन्होंने का० हि० वि० वि० वाराणसी से एम० ए० परीक्षा में वि० वि० में प्रथम स्थान प्राप्त करके एक कीर्तिमान स्थापित किया तथा तीन गोल्ड मेडल एवं पुरस्कार से सम्मानित हुए। आपके ३० से अधिक ग्रन्थ, १०० से अधिक शोध आलेख प्रकाशित हैं, तथा आप शोध त्रैमासिक पत्रिका

'अनेकान्त' का वर्ष २००० ई० से सफलतापूर्वक संपादन कर रहे हैं। विभिन्न विश्वविद्यालयों की अकादमिक समितियों के सदस्य के रूप में आपका महनीय योगदान रहा है।

डॉ० प्रशान्त जैन

प्रवक्ता, जैन इन्टर कॉलेज, खेकड़ा

श्रमण ज्ञान भारती मथुरा का वार्षिकोत्सव

सानंद सम्पन्न

प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी श्रमण ज्ञान भारती छात्रावास का भव्य वार्षिकोत्सव ५ अप्रैल २००९ को जैन चौरासी मथुरा में सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम की अध्यक्षता छात्रावास के अधिष्ठाता श्री निरंजनलाल बैनाड़ा जी ने की। मुख्य अतिथि के रूप में सारस्वत मनीषी श्री पं० रतनलाल जी बैनाड़ा, विशिष्ट अतिथि के रूप में मथुरा के उद्योगपति श्री ऋषभकुमार जी पधारे।

सेठ विजय कुमार टोंग्या

अहिंसात्मक चिकित्सा संबंधी नियमित

मार्गदर्शन अब इण्टरनेट पर

अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों के विशेषज्ञ एवं श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ के संयोजक श्रीमान् चंचलमल जी चोरडिया अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों के प्रचार-प्रसार हेतु प्रयासरत हैं। उनके द्वारा लिखित पुस्तक 'आरोग्य आपका' मानव शरीर के अधिकांश रोगों का इलाज करने में सहायक सिद्ध हुई है।

आज के इस बढ़ते आधुनिक युग में चोरडिया जी ने इण्टरनेट के माध्यम से भी अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों की जानकारी एवं विभिन्न रोगों के उपचार की विधि को सभी तक पहुँचाने का लक्ष्य बनाया है। अतः जो भी स्वास्थ्यप्रेमी प्रभावशाली अहिंसात्मक चिकित्सा पद्धतियों के बारे में नियमित जानकारी प्राप्त करना चाहें, वे चाहे तो इस सेवा का लाभ उठा सकते हैं। जिन महानुभावों के पास अपना ई-मेल पता हो, तो वह अपना ई-मेल पता चोरडिया जी के ई-मेल पर अवश्य मेल करें, ताकि उन्हें नियमित रूप से इन पद्धतियों की जानकारी प्राप्त हो सके। चोरडिया जी का ई-मेल पता है-

cmchoradia.jodhpur@gmail.com;
swachikitsa@therapist.net; drchordia.jodhpur@gmail.com.

कमलेश मेहता, कार्यालय प्रभारी

जैनधर्म में सरस्वती उपासना?

प्रो० सागरमल जैन

हम अपने पूर्व आलेख- "अर्धमागधी आगम साहित्य में श्रुतदेवी सरस्वती" में स्पष्ट रूप से यह देख चुके हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य अर्धमागधी आगमों में तथा उनकी निर्युक्तियों और भाष्यों तक में भी एक देवी के रूप में सरस्वती की अवधारणा अनुपस्थित है। भगवतीसूत्र में सरस्वती (स+रस+वती) पद का प्रयोग मात्र जिनवाणी के विशेषण के रूप में हुआ है और उस जिनवाणी को रस से युक्त मानकर यह विशेषण दिया गया है। यद्यपि उसमें भगवती श्रुतदेवता (सुयदेवयाए भगवइए) के कुछ प्रयोग मिले हैं, परन्तु वे भी जिनवाणी के अर्थ में ही हैं। जिनवाणी के साथ देवता और भगवती शब्दों का प्रयोग मात्र आदरसूचक है, किसी 'देवी' की कल्पना के रूप में नहीं है। श्रुतदेवता (श्रुतदेवी) की कल्पना प्राचीन स्तर के आगमों की अपेक्षा कुछ परवर्ती है। सर्वप्रथम पउमचरियं (ई० २री शती) में ही, श्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी को देवी कहा गया है, जो इन्द्र के आदेश से तीर्थकर माता की सेवा करती हैं (३/५९)। इसके साथ ही अंगविज्जा (लगभग २री शती) में भी बुद्धि की देवता के रूप में 'सरस्वती' का उल्लेख है। (अध्याय ५८/पृ. २२३) जबकि जैन देवमण्डल, जिसमें सोलह विद्यादेवियाँ, चौबीस यक्ष, चौबीस यक्षियाँ (शासनदेवता), अष्ट या नौ दिक्पाल, चौंसठ इन्द्र, लोकान्तिकदेव, नवग्रह, क्षेत्रपाल (भैरव) और चौंसठ योगनियाँ भी सम्मिलित हैं, कहीं भी सरस्वती का उल्लेख नहीं है। यह आश्चर्यजनक इसलिए है, अनेक हिन्दू देव-देवियों को समाहित करके जैनों ने जिस देवमण्डल का विकास किया था, उसमें श्रुतदेवी सरस्वती को क्यों स्थान नहीं दिया गया? जब कि मथुरा से उपलब्ध जैन स्तूप की पुरातात्विक सामग्री में विश्व की अभिलेखयुक्त प्राचीनतम जैन श्रुतदेवी या सरस्वती की प्रतिमा प्राप्त हुई है, जिससे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि ईसा की द्वितीय शताब्दी से जैनों में सरस्वती की आराधना प्रचलित रही होगी, क्योंकि इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा कोटिकगण की वज्रीशाखा के जैनाचार्य द्वारा हुई है और 'सरस्वती' शब्द का भी उल्लेख है। इसके बाद श्वेताम्बर परम्परा में श्रुतदेवी के रूप में सरस्वती के उल्लेख हरिभद्र (८वीं शती) और उनके बाद के आचार्यों के काल से

ही मिलते हैं। तीसरी-चौथी शती से लेकर सातवीं तक हमें सरस्वती के उल्लेख नहीं मिले। पंचकल्पभाष्य की टीका में, उसे व्यन्तर देवी के रूप में उपस्थित किया गया, जो अधिक सम्मानप्रद नहीं था, किन्तु हरिभद्र ने उसकी उपासना विधि में उसे वैराट्या, रोहिणी, अम्बा, सिद्धायिका, काली आदि शासनदेवियों के समकक्ष दर्जा देकर उसका महत्त्व स्थापित किया है, क्योंकि काली, अम्बा, सिद्धायिका आदि को जैनधर्म में शासनदेवता का सम्मान प्राप्त है। श्वेताम्बर परम्परा में श्रुतदेवी सरस्वती की उपासना-विधि के साहित्यिक प्रमाण लगभग ८वीं शती से मिलने लगते हैं।

जहाँ तक सरस्वती की प्रतिमा के पुरातात्विक प्रमाणों का प्रश्न है, वे प्रथमतया तो मथुरा से उपलब्ध सरस्वती की प्रतिमा के आधार पर ईसा की द्वितीय शती से मिलने लगते हैं, किन्तु जैन परम्परा में बहुत ही सुन्दर सरस्वती प्रतिमाएँ पल्लू (बिकानेर) और लाडनू आदि से उपलब्ध हैं, जो ९वीं, १०वीं शती के बाद की हैं।

जहाँ तक अचेल दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है, उसमें श्री श्रुतदेवी सरस्वती के उल्लेख पर्याप्त परवर्ती हैं। कसायपाहुड, षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवती-आराधना, तिलोयपण्णत्ती, द्वादशअनुप्रेक्षा, (बारसअणुवेक्खा) एवं कुन्दकुन्द के ग्रन्थ समयसार, नियमसार, पंचास्तिकायसार, प्रवचनसार आदि में हमें कहीं भी आद्यमंगल में श्रुतदेवता सरस्वती का उल्लेख नहीं मिला है। यहाँ तक कि तत्त्वार्थ की टीकाओं जैसे सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक में तथा षट्खण्डागम की धवलाटीका और महाबंधटीका में भी मंगलरूप में श्रुतदेवी सरस्वती का उल्लेख नहीं है। महाबन्ध और उसकी टीका में मंगलरूप में जिन ४४ लब्धिपदों का उल्लेख है, उनमें भी कहीं सरस्वती या श्रुतदेवता का नाम नहीं है। ज्ञातव्य है ये ही लब्धिपद, श्वेताम्बरपरम्परा में सूरिमंत्र के रूप में तथा प्रश्नव्याकरण नामक अंग-आगम में भी उपलब्ध हैं, जिनमें अनेक प्रकार के लब्धिधरों एवं प्रज्ञाश्रमणों के उल्लेख हैं, किन्तु उनमें भी श्रुतदेवी सरस्वती का कोई उल्लेख नहीं है। विद्वद्वर्ग के लिए यह विचारणीय और शोध का विषय है।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, दिगम्बरपरम्परा में

सर्वप्रथम पं० आशाधर (१३वीं शती) ने अपने ग्रन्थ सागारधर्माभूत में श्रुतदेवता की पूजा को जिनपूजा के समतुल्य बताया है। वे लिखते हैं-

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽजसा जिनं।

तं किञ्चिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयो ॥ २/४४ ॥

मेरी जहाँ तक जानकारी है, दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द प्रणीत मानी जानेवाली दस भक्तियों में श्रुतभक्ति तो है, किन्तु वह श्रुतदेवी सरस्वती की भक्ति है, यह नहीं माना जा सकता है। 'श्रुतदेवयो' यह पद भी सर्वप्रथम सागारधर्माभूत में ही प्राप्त हो रहा है। मेरी दृष्टि से आचार्य मल्लिषेण विरचित 'सरस्वती मन्त्रकल्प' उस परम्परा में सरस्वती उपासना का प्रथम ग्रन्थ है। मेरी दृष्टि में यह ग्रन्थ बारहवीं शती के पश्चात् का ही है।

जहाँ तक श्वेताम्बर परम्परा का प्रश्न है, मेरी जानकारी में उसमें सर्वप्रथम 'सरस्वतीकल्प' की रचना आचार्य बप्पभट्टीसूरि (लगभग १० वीं शती) ने की है। यह कल्प विस्तार से सरस्वती की उपासनाविधि तथा तत्सम्बन्धी मंत्रों को प्रस्तुत करता है। आचार्य बप्पभट्टीसूरि का काल लगभग १०वीं शती माना जाता है। श्वेताम्बर परम्परा में सरस्वती का एक अन्य स्तोत्र साध्वी शिवार्या का मिलता है, इसका नाम 'पठितसिद्ध सारस्वतस्तव' है। साध्वी शिवार्या का काल क्या है? यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। इसके पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में जिनप्रभसूरि (लगभग १३ वीं-१४ वीं शती) का श्री शारदास्तवन मिलता है, यह आकार में संक्षिप्त है, इसमें मात्र ९ श्लोक हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य श्री सरस्वती स्तोत्र उपलब्ध होता है, इसमें मात्र १७ श्लोक हैं। इसके कर्त्ता भी अज्ञात हैं। इनमें बप्पभट्टीसूरि का 'सरस्वती कल्प' ही ऐसा है, जिसमें सरस्वती उपासना की समग्र पद्धति दी गई है। यद्यपि यह पद्धति वैदिक परम्परा से

पूर्णतः प्रभावित प्रतीत होती है। इस लेख में उल्लेखित सभी स्तोत्र हमने क्रमशः परिशिष्ट में दिये हैं।

जहाँ तक सरस्वती के प्रतिमा लक्षणों का प्रश्न है। सर्वप्रथम खरतरगच्छ के वर्धमानसूरि (१४वीं शती) द्वारा रचित 'आचार दिनकर' नामक ग्रन्थ की प्रतिष्ठाविधि में निम्न दो श्लोक मिलते हैं-

ऊँ ह्रीं नमो भगवती ब्रह्माणि वीणा पुस्तक।
पद्माक्षसूये हंसवाहने श्वेतवर्णे इह षष्ठि पूजने आगच्छ ॥

पुनः-

श्वेतवर्णा श्वेतवस्त्रधारिणी हंसवाहना
श्वेतसिंहासनासीना चतुर्भुजा।
श्वेताब्जवीणालङ्कृता वामकरा
पुस्तकमुक्ताक्षमालालङ्कृतदक्षिणकरो ॥

(आचार्य दिनकर प्रतिष्ठाविधि)

जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है, उस परम्परा के ग्रन्थ 'प्रतिष्ठासारोद्धार' में सरस्वती के सम्बन्ध में निम्न श्लोक उपलब्ध है-

वाग्वादिनी भगवति सरस्वती ह्रीं नमः, इत्यनेन
मूलमन्त्रेण वेष्टयेत्। ओं ह्रीं मयूरवाहिन्यै नमः इति
वाग्देवता स्थापयेत् ॥ (प्रतिष्ठासारोद्धार)

दोनों परम्पराओं में मूलभूत अन्तर यह है कि श्वेताम्बर परम्परा में सरस्वती का वाहन हंस माना गया है, जबकि दिगम्बर परम्परा में मयूर। हंस विवेक का प्रतीक है सम्भवतः इसीलिए श्वेताम्बर आचार्यों ने उसे चुना हो। फिर भी इतना निश्चित है कि सरस्वती इन प्रतिमालक्षणों पर वैदिक परम्परा का प्रभाव है। साथ ही उससे समरूपता भी है। मथुरा से प्राप्त जैनसरस्वती की प्रतिमा में मात्र एक हाथ में पुस्तक है, जबकि परवर्ती जैनसरस्वती मूर्तियों में वीणा प्रदर्शित है।

प्राच्य विद्यापीठ

दुपाडा रोड, शाजापुर, म०प्र०

जिनेन्द्र-कला-केन्द्र ३६५ नैत्र लेंस निशुल्क प्रदान करेगा

जिनेन्द्र कला केन्द्र, भीलवाड़ा ने अपनी 'म्यूजिक फॉर मेन काइण्ड' योजना में निर्धन व्यक्तियों को ३६५ नैत्र लेंस, चश्मा व आवश्यक औषधियाँ भी निशुल्क देने का निर्णय लिया है, जिसके अंतर्गत मार्च, अप्रैल २००९ में लॉयन नेत्र चिकित्सालय व गणेश उत्सव सेवा समिति को १०० नैत्र लेंस आदि प्रदान किये गये हैं। इस योजना में संस्था सचिव श्री निहाल अजमेरा, श्री वीरेन्द्र कुमार झांझरी (नीमच), डॉ० श्रीमती कुसुम व डॉ० सुमन जैन ने २५ हजार रूपया भेंट देकर सेवा का अवसर प्राप्त किया।

निहाल अजमेरा, सचिव

निगोदिया जीव एवं आधुनिक विज्ञान

डॉ० अशोक कुमार जैन, ग्वालियर

जैनधर्म अध्यात्म-परक धर्म है जहाँ आत्मा की शुचिता को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इस शुचिता को प्राप्त करने के लिए जैन धर्मगुरुओं ने मनुष्य को संसार की वास्तविकता का बोध कराने का हर संभव प्रयत्न किया है। प्रकृति का शायद ही कोई ऐसा तत्त्व हो, जो जैन मनीषियों के ज्ञान से अछूता रहा हो। जगत में स्थित जड़ और चेतन का अत्यन्त तर्कसंगत, व्यवहारिक और व्यवस्थित वर्णन जैनधर्म में मिलता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, जल, अग्नि वायु और वनस्पति आदि जीवों से लेकर अत्यन्त सूक्ष्म निगोदिया जीवों तक का वर्णन जैनआचार्यों ने किया है।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से अभी तक ज्ञात सूक्ष्मतम जीव जीवाणु (बैक्टीरिया) एवं विषाणु (वायरस) हैं। निगोदिया जीवों की तरह यह भी जल, थल और नभ में प्रत्येक स्थान पर मौजूद रहते हैं। माइक्रोप्लाज्मा भी अत्यन्त सूक्ष्म जीव हैं। उक्त सूक्ष्म जीवों की तुलना जैनधर्म में वर्णित निगोदिया जीवों से करने के विषय में गहन शोध और अध्ययन की आवश्यकता है।

जैनधर्म में निगोदिया जीव- निगोदिया जीव एकेन्द्रिय जीव हैं। इन्हें वनस्पतिकायिक के अन्तर्गत रखा गया है हालाँकि इनका पृथक अस्तित्व भी है।

जो अनन्तों जीवों को एक निवास दे, उसे निगोद कहते हैं। इस निगोद शरीर में बसनेवाले अनन्त जीवों को निगोदिया जीव कहते हैं, निगोदिया जीवों को जानने के लिए वनस्पतिकायिक जीवों का वर्गीकरण भी जानना आवश्यक है। यह दो प्रकार का है-

प्रत्येक वनस्पति- जिनमें प्रत्येक जीव का अलग-अलग शरीर होता है।

साधारण वनस्पति- जिनमें अनन्त जीवराशि का एक ही शरीर होता है। उस शरीर में उन अनन्त जीवों का जन्म, मरण, श्वास-निःश्वास क्रिया आदि सभी कार्य एक साथ समान रूप से होते हैं। कच्ची या अपरिपक्व अवस्था में सभी वनस्पतियाँ साधारण ही रहती हैं। किसी पेड़ की जड़ साधारण होती है, किसी के पत्ते साधारण होते हैं, किसी के फूल साधारण होते हैं, किसी के पर्व (गांठ) का दूध अथवा किसी के फल साधारण होते हैं।

इनमें किसी किसी के तो सम्पूर्ण अवयव साधारण ही होते हैं। मूली, अदरक, आलू अरबी आदि सब मूल (जड़ें) साधारण हैं, अनन्त जीवों का निवास होने से यह साधारण वनस्पति अनन्तकायिक भी कहलाती है। जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रित निगोदिया जीव होते हैं, वह सप्रतिष्ठित-प्रत्येक कहलाती है। जिसके आश्रित साधारण या निगोदिया जीव नहीं रहते, वह अप्रतिष्ठित-प्रत्येक कहलाती है। निगोदिया जीव सूक्ष्म और स्थूल (बादर) दो प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म निगोदिया जीव वे कहलाते हैं जो किसी के द्वारा बाधित नहीं होते और न ही किसी को बाधा पहुँचाते हैं अर्थात् किसी के आश्रित नहीं रहते। इसलिए ये सर्वत्र पाये जाते हैं। इन्हें इन्द्रियों द्वारा देखा नहीं जा सकता। बादर (स्थूल) निगोदिया जीव बाधित होते हैं और बाधा भी पहुँचाते हैं, पर बादर (स्थूल) होने के बावजूद भी वास्तव में ये भी इतने सूक्ष्म होते हैं कि सामान्य आँखों से दिखाई नहीं पड़ते। इन साधारण कहे जानेवाले निगोदिया जीवों की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग या उससे भी सूक्ष्म होती है। निगोदिया जीवों के साथ मुश्किल यह है कि एक ही निगोद शरीर में जीवों के आवागमन का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। अतः यह पता लगाना आसान नहीं होता है कि कब पुराने जीव मर गये और कब अनन्त नये जीवों की उत्पत्ति हो गयी। निगोदिया जीवों का आकार आयत-चतुस्र और गोल दोनों प्रकार का माना गया है।

जैनधर्म के अनुसार जीवों का जन्म तीन प्रकार से होता है- सम्मूर्छन-जन्म, गर्भ-जन्म और उपपाद जन्म। इधर-उधर के परमाणुओं के मिलने से तथा विभिन्न प्रकार के वातवरण से जीता अपने योग्य शरीर बना लेता है, तो इसे सम्मूर्छन जन्म कहते हैं। निगोदिया जीवों का सम्मूर्छन जन्म ही होता है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार स्थावर जीवों के शरीर तथा देव शरीर, नारकी शरीर, आहारक शरीर और केवली का शरीर, इन आठ शरीरों में निगोदिया जीव नहीं होते हैं। शेष सब शरीरों में बादर-निगोद जीव होते हैं। मांस आदि में उत्पन्न होनेवाले निगोदिया जीव उसी मांस की जाति के होते हैं अर्थात् उस मांस का जैसा वर्ण, रस, गन्ध है, उसी तरह के उसमें बादर-निगोद जीव पैदा होते हैं।

वनस्पतिकाय में जो बादर-निगोद-जीव पैदा होते हैं, वे उस वनस्पति के रूप-रस-गन्ध जैसे ही पैदा होते हैं।

जैनधर्म के अनुसार यदि जीव अपनी शारीरिक संरचना पूर्ण करने में सक्षम होता है, तो उसे पर्याप्तक कहते हैं और जब वह अपनी शारीरिक संरचना पूर्ण करने की क्षमता से रहित होता है और शारीरिक संरचना पूर्ण होने से पूर्व ही मर जाता है, तब उसे लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं। निगोदिया जीव दोनों प्रकार के होते हैं पर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक।

आधुनिक विज्ञान में सूक्ष्म जीव

आधुनिक जीवविज्ञान में सूक्ष्म जीवों का अत्यन्त महत्त्व है। प्रकृति के विभिन्न प्रकार के वातावरण में पाये जानेवाले, विविध रोग फैलानेवाले, लाभप्रद या हानिकारक सूक्ष्म जीवों की शारीरिक संरचना एवं क्रियाविधि का विस्तृत अध्ययन होने से ही मानव ने अनेक क्षेत्रों में प्रगति की है। यह सूक्ष्म जीव मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं- जीवाणु, (बैक्टीरिया), विषाणु (वायरस) एवं माइक्रोप्लाज्मा।

जीवाणु (बैक्टीरिया)- जीवाणु या बैक्टीरिया एककोशीय सूक्ष्म जीव होते हैं। सामान्यतः ये गोलाकार, दण्डाकार या स्पायरल होते हैं। बैक्टीरिया सामान्यतः कॉलोनी बना कर (गुत्थे के गुत्थे) रहते हैं, जिसमें ये एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। जीवाणुओं का आकार ०.१ माइक्रोन से १० माइक्रोन तक होता है। एक माइक्रोन एक मिलीमीटर के हजारवें हिस्से के बराबर होता है। अधिकांश जीवाणु परपोषी होते हैं अर्थात् अपना भोजन अन्य कार्बनिक पदार्थ या जीवित जीवों से प्राप्त करते हैं। स्वयंपोषी जीवाणु अपना भोजन जल कार्बनडाइ-ऑक्साइड आदि से स्वयं बना लेते हैं। जीवाणुओं में श्वसन क्रिया होती है और प्रजनन-वर्धी प्रजनन, अलैंगिक या लैंगिक प्रजनन के रूप में होता है।

विषाणु (वायरस)- विषाणु या वायरस का आकार बैक्टीरिया से भी छोटा होता है। इनके स्वयं के कोई कोशिका नहीं होती है बल्कि ये किसी अन्य कोशिका में घुसकर प्रजनन करते हैं। प्रायः वायरस स्वतंत्र दशा में अक्रिय रहते हैं, क्योंकि इनके पास अपना उपापचय तंत्र नहीं होता है। जब वे अपना न्यूक्लिक अम्ल परपोषी कोशिका में अन्तर्क्षेपण करते हैं, तो यह क्रियाशील होकर परपोषी कोशिका की उपापचयी क्रिया पर नियंत्रण कर लेते हैं। वायरस सुई या डण्डे के आकार के, आयताकार, गोलाकार, बहुभुजीय या चतुष्कोणीय रवों के समान होते

हैं। वायरस का आकार अनास्ट्राम इकाई से मापा जाता है। एक अनास्ट्राम १/१००० माइक्रोन के बराबर होता है। किसी भी परपोषी कोशिका में लाखों वायरस लम्बे समय तक बिना प्रत्यक्ष रूप से अपनी उपस्थिति बनाए रह सकते हैं।

माइक्रोप्लाज्मा- माइक्रोप्लाज्मा का शरीर अति सूक्ष्म होता है। इनकी कोशिका की लम्बाई जीवाणु कोशिका के दसवें भाग के बराबर तथा व्यास ०.५ माइक्रोन से भी कम होता है। ये जीव अभी तक हुई जीवविज्ञान की खोज में सबसे छोटे आकार के हैं, जो अनुकूल वातावरण में स्वतंत्र रूप से जीवित रह सकते हैं।

निगोदिया जीव और जीवाणु, (बैक्टीरिया), विषाणु (वायरस) एवं जैनधर्म और आधुनिक वैज्ञानिक खोजों में माइक्रोप्लाज्मा में समानताएँ-

१. बैक्टीरिया और वायरस आदि सूक्ष्म जीवों की तरह निगोदिया जीव भी वातावरण में सर्वत्र पाये जाते हैं।
२. आधुनिक सूक्ष्म जीवों की तरह निगोदिया जीव भी अनन्त होते हैं एवं एक ही पोषक कोशिका या सम्पूर्ण शरीर में रहते हैं। वायरस प्रायः निष्क्रिय ही रहते हैं, परन्तु किसी बैक्टीरिया के शरीर में पहुँच कर वह सक्रिय हो जाते हैं और उसी शरीर में निवास करते हैं।
३. जिस तरह सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति के आश्रित अनन्त साधारण या निगोदिया जीव पाये जाते हैं, उसी तरह हजारों आधुनिक वनस्पतियाँ हैं, जिनकी जड़ तना, कंद या फल फूलों में बैक्टीरिया या वायरस का निवास होता है। कई अति सूक्ष्म वनस्पतियाँ जैसे कि एल्गी (काई) आदि के आश्रित अनन्त बैक्टीरिया पाये जाते हैं, जो जैनधर्म में वर्णित साधारण वनस्पति के समान जान पड़ती हैं। वैसे भी आधुनिक वैज्ञानिकों ने जीवाणु या बैक्टीरिया को पौधों के वर्ग में ही रखा है।
४. बैक्टीरिया की अनेक प्रजातियों के समान निगोदिया जीव भी गोलाकार होते हैं। वायरस तो निगोदिया जीवों के समान, आयताकार और गोलाकार दोनों प्रकार के होते हैं।
५. जैनधर्म के अनुसार बौने के अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त सभी वनस्पतियाँ अप्रतिष्ठित होती हैं। बाद में निगोदिया

जीवों के निवास बना लेने से सप्रतिष्ठित हो जाती हैं। आधुनिक वनस्पति-विज्ञान में फली, दाल, मटर, आदि के पौधों के बीजों को बोने के उपरान्त जैसे ही पौधा बड़ा होने लगता है, इसकी जड़ों के छोटी-छोटी गाँठें बन जाती हैं। एवं इन गाँठों में बैक्टीरिया अपना निवास बना लेते हैं।

६. आधुनिक बैक्टीरिया और वायरस की तरह निगोदिया जीव भी इतनी तीव्र गति से जन्म लेते हैं एवं वृद्धि करते हैं कि यह देख पाना असंभव हो जाता है कि कौन सा जीव नया है ओर कौन सा पुराना। जिस प्रकार एक शरीर में निगोदिया जीव एक साथ ही जन्म-मरण, श्वासोच्छ्वास एवं अन्य क्रियाएँ करते हैं, उसी तरह अधिकांश बैक्टीरिया एवं वायरस की गतिविधियाँ भी समान रूप से चलती हैं।
७. अधिकांश बैक्टीरिया वर्धी या अलैंगिक प्रजनन

करते हैं। यही गुण निगोदिया जीव में भी पाया जाता है। सभी निगोदिया सम्मूर्छन-जन्म वाले हैं।

८. आधुनिक सूक्ष्म जीवों और निगोदिया जीवों में अन्य बड़े जीवों की तरह तंत्रिका तंत्र (नर्वस सिस्टम) नहीं होता, यह गुण उनके समान रूप से एकेन्द्रिय होने का संकेत देता है।

निगोदिया जीवों में जो लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं उनके जन्म मरण का काल अत्यंत अल्प है, परन्तु बैक्टीरिया या वायरस आदि के बारे में विज्ञान में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। क्या वास्तव में बैक्टीरिया या वायरस आदि जीव भी निगोदिया जीव हैं? इस विषय पर गहन विचार और शोध की आवश्यकता है। इतना अवश्य है कि जैन-आचार्यों द्वारा वर्णित सूक्ष्मतम जीव, निगोदिया हैं एवं आधुनिक जैव-वैज्ञानिकों द्वारा खोजे गये सूक्ष्मतम जीव बैक्टीरिया, वायरस एवं माइक्रोप्लाज्मा हैं।

मैं हूँ वो नहीं...

मुनि श्री प्रणम्य सागर जी

१
मैं हूँ वो नहीं जो तुम्हें दिख रहा हूँ।
मैं हूँ वो नजर से परे ही रहा हूँ॥
न जाने कहाँ से यहाँ आ गया हूँ
जो चेतन हूँ तन में समा क्यों गया हूँ
मैं बन्धन से मुक्ति को अब पा रहा हूँ
मैं हूँ वो नहीं

२
सभी की तरह थी मेरी जो भी हसरत
नहीं मुझको उनकी रही जब जरूरत
मैं तब से ही अपने में सुख पा रहा हूँ
मैं हूँ वो नहीं

३
कठिन राह पर भी मैं आसान क्यों हूँ
समझ कर भी सब कुछ मैं अनजान जो हूँ
जो पाया न अब तक वो अब पा रहा हूँ
मैं हूँ वो नहीं

ये एहसास कैसा मुझे हो रहा है
जो मुझको ही केवल समझ आ रहा है
मैं अपने को अपने में ही पा रहा हूँ
मैं हूँ वो नहीं

मेरे बाद भी लोग आएँगे ऐसे
जो पूछेंगे जग में जिए तुम थे कैसे
मैं इस बार मर कर भी मर ना रहा हूँ
मैं हूँ वो नहीं.....

स्थान बदलती पुस्तकें

डॉ० कपूरचंद जैन

हाल ही में अपने एक परिचित के यहाँ जाना हुआ। पिछले ४० वर्ष से, उनके घर आता-जाता रहा हूँ। पुरानी परम्परा के पण्डित, घर के हर आले, मध्यम मेज, सब जगह पुस्तकें ही पुस्तकें रहती थीं। पुस्तकें भी विभिन्न प्रकार की जिनवाणी, नाममाला, तत्त्वार्थसूत्र, क्षत्र-चूडामणि, रत्नकरण्डश्रावकाचार, पंचतंत्र, हितोपदेश, लघुकौमुदी आदि। घर के मुख्य कक्ष में लकड़ी की एक अलमारी, अलमारी के नीचे के दो खण्डों में पूजा के बर्तनों के सेट, हवनकुण्ड, धोती दुपट्टा आदि। पं० जी विवाह शादी, गृह प्रवेश के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के विधान आदि करवाते थे, सो ये चीजें जरूरी थीं। अलमारी के ऊपर के खण्डों में वही पुस्तकें ही पुस्तकें, बेतरतीव ढंग से रखी हुई, सर्वार्थसिद्धि से लेकर पूजा के गुटके तक।

अब की बार गया, तो नजारा बिल्कुल बदला हुआ था। बैठक कक्ष में कहीं कोई धार्मिक पुस्तक दिखाई नहीं दे रही थी। लकड़ी की अलमारी भी नहीं थी। आलों में या तो प्लास्टिक के फूलोंवाले गुलदस्ते थे या इंजीनियरिंग, मैनेजमेंट आदि की पुस्तकें। मध्य टेबिल पर भी बेतरतीव ढंग से रखीं वही इंजीनियरिंग आदि की पुस्तकें।

घर में बैठकर आधा घण्टे सुख-दुख, बच्चों-बड़ों, शादी-विवाह, पढ़ने-लिखने, सेमिनार-सम्मेलन, परिषद-संघों आदि की बातें हुई। समय बीतता जा रहा था, बुभुक्षा भी दस्तक दे रही थी, सो जल्दी से फ्रेश होकर, नहा-धोकर घड़ी देखी, तो साढ़े बारह बज गये थे। मंदिर तो साढ़े ग्यारह बजे ही बन्द हो जाता है। सोचा पाठ और सामायिक कर लें शाम को सभी मंदिर चलेंगे। देखा तो घर में कहीं जिनवाणी नहीं मिली। पूछा तो पं० जी की बड़ी बहू बोली शायद पापा जी के कमरे में रखी होगी, यहाँ की सभी पुस्तकें पापा जी के कमरे में रख दी गई थीं।

पण्डित जी के कमरे में देखा, तो वहाँ भी जिनवाणी नहीं थी। पं० जी के कमरे में भी पोता आकर सोने लगा था, उसने ज्यादातर पुस्तकें तो रद्दी में बेच दी थीं, पं० जी के प्रतिवाद करने पर जो बची थीं, उन्हें बाथरूम के ऊपर टांड (दुछत्ती) पर रख दिया गया था।

आज कमोवेश यही स्थिति प्रायः सर्वत्र दिखाई दे

रही है। धार्मिक पुस्तकें बार-बार अपना स्थान बदल रही हैं और बाहर होती जा रही हैं। हमारे शहर के 'वर्धमान जैनसंघ' के कुछ नौजवानों ने एक प्रयोग किया। उन्होंने शहर के सभी ०९ मंदिरों में टिन के बड़े-बड़े बक्से रख दिये और उन पर लिख दिया कि 'अपने घर की अनुपयोगी धार्मिक पुस्तकें, भगवान् के फोटो आदि इसमें डाल दें जिससे उनका अविनय न हो। थोड़े ही दिनों में सभी बक्से भर गये, अधिकांश पुस्तकें ही इनमें थीं। इससे ज्ञात होता है कि लोग अपने घर में धार्मिक साहित्य रखना ही नहीं चाहते, अधिक हुआ, तो जिनवाणी की एक पुस्तक घर में रख लेते हैं।

आज इंजीनियरिंग, मेडिकल, मैनेजमेंट का जमाना है। टी०वी०, कम्प्यूटर, इन्टरनेट के प्रति आकर्षित युवा-वर्ग को, इसके सिवा कहीं भविष्य दिखाई नहीं देता। आज राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, हिन्दी, संस्कृत, अँग्रेजी आदि मानविकी और समाज विज्ञान विषयों में विद्यार्थियों की संख्या घटी है, फिर धार्मिक शिक्षा का, तो कहना ही क्या। पाठशालाएँ दम तोड़ चुकी हैं, शिविर भी अनेकबार राजनीति के शिकार हो जाते हैं। एक कमी यह भी है कि नई पीढ़ी के अनुरूप धार्मिक-साहित्य का लेखन/प्रकाशन नहीं हो पाया है।

आज हमारे घर धार्मिक साहित्य से शून्य बनते जा रहे हैं। जैनआचार्यों ने, तो यहाँ तक कहा है कि, जिस घर में जिनवाणी नहीं, वह घर श्मशान के समान है। वैदिक साहित्य के 'भूत शुद्धि तन्त्र' ग्रन्थ में इसी प्रकार के भाव को व्यक्त करता श्लोक है-

पुस्तकं च महेशानि, यद् गृहे विद्यते सदा।

काश्यादीनि च तीर्थानि, सर्वाणि तस्य मंदिरे ॥

प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में क्या किया जाये? पाठक भी पूँछ सकते हैं कि हम क्या करें? उत्तर यही दिया जा सकता है कि हमारे पूज्य मुनिराज, आर्थिका माताएँ, विद्वान्, साधक, समाजसेवी लोगों को प्रेरणा दें कि अपने घर में कम से कम जिनवाणी की एक पुस्तक उच्च स्थान पर अवश्य विराजमान करें। साथ ही नैतिक आचरण की प्रेरणा देनेवाला लोकोपयोगी साहित्य और अपनी संस्कृति को दिग्दर्शित करनेवाली पुस्तकें घर में

जरूर रखें। यदि एक बच्चे में भी पढ़ने की ललक जाग गई, तो आपका श्रम सार्थक होगा। स्मरण रखें, जिस घर में जिनवाणी विराजमान होती है, वहाँ की अनेक आपदायें स्वयं टल जाती हैं। विद्वानों के संगठन भी आज की नौजवान पीढ़ी के अनुरूप साहित्य के प्रकाशन में अग्रसर हों, तो एक बड़ी उपलब्धि होगी।

पाठक बन्धु भी किसी के घर गये हों और वहाँ जिनवाणी न देखी हो, तो अगली बार उसके घर जायें, तो एक जिनवाणी की पुस्तक उपहार स्वरूप अवश्य ले जायें, आपको श्रुतभक्ति का पुण्य मिलेगा, वे भी इस उपहार को पाकर प्रसन्न हो जायेंगे और कभी न कभी तो, उस

जिनवाणी को पढ़ेंगे ही। दिल्ली में लाल मंदिर, मुम्बई में भूलेश्वर, कोलकत्ता में बड़ा मंदिर जी, इंदौर में पंचबालयति मंदिर जैसे अनेक बड़े और मध्यम शहरों में लगभग सभी तीर्थक्षेत्रों पर पुस्तक विक्रय केन्द्र हैं। छोटे शहरों में जहाँ नहीं हैं वहाँ मंदिर जी में जिनवाणी समुचित मूल्य पर मिलने की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए। इस फीचर को पढ़कर यदि एक भी नौजवान के भाव जिनवाणी को पढ़ने और उसे घर में विराजमान करने के हुए, तो हम अपना श्रम सार्थक समझेंगे।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
श्री कुन्दकुन्द जैन पी० जी० कॉलेज,
खतौली- २५१५२०१ (उ०प्र०)

जैन ऐतिहासिक दस्तावेजों का प्रकाशन होगा

खतौली ऐतिहासिक महत्त्व के जैन दस्तावेजों के प्रकाशन की महती और बहुप्रतीक्षित योजना 'सर्वोदय फाउण्डेशन, खतौली एवं श्रीमती दक्खाबाई जैन शैक्षणिक एवं पारमार्थिक लोक कल्याण ट्रस्ट, झांसी' द्वारा शीघ्र पूर्ण की जायेगी। शोध और अध्ययन के दौरान यह देखने में आया है कि अनेक दस्तावेजों का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु वे प्रामाणिक रूप में उपलब्ध नहीं हो पाते। ऐसे दस्तावेज व्यक्तिविशेष के साथ नष्ट हो जाते हैं। यह भी होता है कि कोई दस्तावेज एक व्यक्ति की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण होता है, वही दस्तावेज दूसरी पीढ़ी/व्यक्ति/विद्वान् आदि की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण नहीं होता, फलतः या तो वह नष्ट कर दिया जाता है या किसी काल-कोठरी में पड़ा हुआ किसी अन्वेषक की राह देखता है। स्वतंत्रता संग्राम में जैनों के योगदान विषयक अनेक पत्रों की हमें आज भी तलाश है।

ऐसी स्थिति में यदि आज उपलब्ध दस्तावेजों का पुनः प्रकाशन कराया जा सके, तो यह ऐतिहासिक धरोहर सुरक्षित रह सकेगी, और आवश्यकता पड़ने पर प्रमाण के रूप में काम करेगी। इसी भाव को ध्यान में रखकर यह योजना बनाई गई थी, तथा तीन-चार वर्षों से सामग्री का संकलन किया जा रहा था।

सर्वोदय फाउण्डेशन के अध्यक्ष डॉ० कपूरचंद जैन एवं श्रीमती दक्खाबाई जैन शैक्षणिक एवं पारमार्थिक लोक कल्याण ट्रस्ट, झांसी के अध्यक्ष श्री सुमत कुमार जैन, सी० ए० ने सभी पाठकों/पूज्य मुनिराजों/आर्यिका माताओं/ब्रह्मचारियों/अन्य साधक-साधिकाओं/शोधकर्ताओं/विद्वानों/समाजसेवियों/प्रबुद्ध श्रावकों/इतिहासविदों/जैन संस्कृति प्रेमियों/विद्वत् संस्थाओं/सामाजिक संगठनों/शोध संस्थानों से विनम्र अनुरोध और करबद्ध प्रार्थना की है कि समय-समय पर जारी जैनधर्म संस्कृति अहिंसा विषयक राजाज्ञाओं/विभिन्न न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णयों/समाज की पंचायतों द्वारा निपटाये गये लिखित प्रामाणिक मामलों/जैन सांस्कृतिक विरासत से सम्बन्धित दस्तावेजों/महत्त्वपूर्ण पत्रों/महत्त्वपूर्ण लेखों/पुस्तकों की भूमिकाओं या आपकी दृष्टि से सुरक्षित रखे जाने योग्य प्रामाणिक दस्तावेजों, फोटोग्राफ्स आदि की जानकारी देकर तथा उन्हें भेजकर अनुगृहीत करें। जिन महानुभावों के सौजन्य से दस्तावेज प्राप्त होंगे उनका साभार नामोल्लेख किया जायेगा। इसमें किसी प्रकार का व्यय भी हम वहन करेंगे।

विनम्र निवेदक

डॉ० श्रीमती ज्योति जैन, मंत्री सर्वोदय फाउण्डेशन
द्वारा सर्वोदय, जैन मण्डी, खतौली-२५१२०१ (उ.प्र.)

फोन- ०१३९६-२७३३३९, ९४१२६७८२५६

ई-मेल : dijainkc@yahoo.com

आशावादिता

डॉ० सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती'

मैंने बचपन में सुना था कि आशा पर आसमान टिका होता है। यह बात बहुत हद तक सही प्रतीत होती है। हमारे सुख का कारण आज तो है ही, लेकिन बेहतर कल की आशा भी इसमें सहायक होती है। जिसके मन में आशा की डोर टूट जाती है वह निराश, हताश हो विकास के पथ से विरत हो जाता है। ऐसा स्थिति में वह कभी विकास के पथ पर आ ही नहीं सकता अतः भारतीय मनीषियों का चिन्तन है कि सब कुछ छूट जाये, तो कुछ नहीं बिगड़ेगा किन्तु आशा नहीं टूटना चाहिए।

आज के संसार में दुःख अधिक दिखाई देते हैं, इसके लिए कहीं न कहीं हमारी सोच भी दोषी हो सकती है। जब सुख की समस्त सामग्रियाँ हमारे आसपास विद्यमान हैं, तो प्रश्न उठता है कि यह दुःख क्यों? तो यही उत्तर मिलता है कि हमारी समस्याओं का प्रमुख कारण वस्तु या पदार्थों का अभाव नहीं बल्कि उनके संचय करने की प्रवृत्ति और तृष्णाभाव है। जहाँ तृष्णा है, वहाँ अतृप्ति स्वाभाविक है, ऐसा मानना चाहिए।

हमारे सामने तीन स्थितियाँ होती हैं एक आशा की जिसमें हम मन से चाहते हैं और मुख से माँगते हैं, दूसरी वह जिसमें हम मन से तो चाहते हैं, किन्तु मुख से नहीं माँगते। यह स्थिति संतोष की होती है। नीतिकार कहते भी हैं कि-

गोधन गजधन वाजिधन और रतन धन खानि।

जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समानि॥

तीसरी स्थिति वह होती है, जिसमें व्यक्ति न मन से माँगता है और न मुख से चाहता है, यह स्थिति तृप्त व्यक्ति की होती है, जिन्हें हम महापुरुषों की कोटि में रखते हैं। प्रथम आशावादी एवं द्वितीय संतोषी प्राणी हम और आप होते हैं। हमें ऐसा होना भी चाहिए क्योंकि

आशा जीवन का संदेश देती है, नयी संरचना के लिए वातावरण सृजित करती है और संतोष को परम धन माना गया है क्योंकि संतोषी प्राणी कदाचित् हानि भी हो जाय, तो दुःखी नहीं होता, बल्कि जिससे उसे हानि ना हो, ऐसा चिन्तन एवं कार्य करता है।

आशा सामान्य भाव है, जिसमें आकर्षण है, जबकि तृष्णा में विकर्षण है क्योंकि तृष्णा और तृष्णा को बढ़ाती है। वह न स्वयं खाने देती है और जिन्हें जरूरत है उन्हें सहयोग भी नहीं करने देती। वास्तव में सुनियोजित तरीकों से पदार्थों का संचय ही उचित नहीं कहा, बल्कि उन संचित पदार्थों का सुनियोजित तरीके से व्यय करना भी आना चाहिए। आय और व्यय दोनों ही स्थितियों में शुभ का योग होना चाहिए, हमारे पास जो आय हो वह भी शुभ तरीकों से हो, न्यायोपात्त हो और जो व्यय हो वह भी शुभ कार्यों में हो, तो सोने में सोहागा जैसी स्थिति बनती है। आनन्द का अक्षय स्रोत हमारे अंदर छिपी प्रबल, किन्तु सहज आशावादिता में है। सुप्रभात होते ही चिड़ियाँ चहचहाती हुई, प्रभाती गार्ती हुई अपने लिए भोजन की तलाश में निकल पड़ती हैं। उन्हें पता भी नहीं होता कि भोजन कहाँ है, किन्तु वे यह जानती हैं कि आगे बढ़ो, तो भोजन अवश्य मिलेगा। आशा का यह आंतरिक प्रवाह उन्हें ही आनन्दित नहीं करता अपितु उनके आनंद को सुनकर और देखकर दूसरे भी आनन्दित होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आशावादिता ही आनंद की कुँजी है। क्यों न इससे हम निराशा के ताले को खोलें और लक्ष्य प्राप्तारूपी महल में प्रवेश करें। क्या आप ऐसी आशावादिता के लिए तैयार हैं?

एल-६५, न्यू इंदिरा नगर,

बुरहानपुर, म०प्र०

यह मुमकिन है कि लिक्खी हो कलम ने फ़तह आखिर में।
जो हैं अहबाबे-हिम्मत, गम नहीं करते शिकस्तों में॥

-शाद अजीमाबादी

हाँ, हाँ मगर ये दोस्त, तू तदबीर किये जा।
यह भी तेरी तकदीर के दफ्तर में लिखा है।

-दत्तात्रिय कैफ़ी

जिज्ञासा-समाधान

पं० रतनलाल बैनाड़ा

१. प्रश्न- विकलत्रय जीव म्लेच्छ खण्डों में तथा भोगभूमियों में पाये जाते हैं अथवा नहीं?

समाधान- सभी भोगभूमियों में विकलत्रय जीव नहीं पाये जाते हैं, जैसा श्री धवला पु० ४, पृष्ठ-३ पर इस प्रकार कहा है-

मानुषोत्तरपर्यन्ता जन्तवो विकलेन्द्रियाः।

अन्त्यद्वीपार्द्धतः सन्ति परस्तात्ते यथा परे॥ ६३३॥

इस ओर विकलेन्द्रिय जीव मानुषोत्तर पर्वत तक ही रहते हैं। उस ओर स्वयम्भूरमण द्वीप के अर्ध भाग से लेकर अन्त तक पाये जाते हैं। अर्थात् बीच के असंख्यात द्वीप समुद्रों में विकलत्रय जीव नहीं पाये जाते।

२. सिद्धान्तसारदीपक, (भट्टारक सकलकीर्ति विरचित) के अधिकार-१० श्लोक नं० ४०४ में इस प्रकार कहा है-

शेषासंख्यसमुद्रेषु मत्स्याद्या जातु सन्ति न।

भोगक्षामध्यभागे स्थितेषु द्वयक्षादयो न वा॥

अर्थ- शेष असंख्यात समुद्रों में मत्स्य आदि जीव कभी भी नहीं पाये जाते। भोगभूमि क्षेत्रों में द्वीन्द्रिय आदि जीव पैदा नहीं होते हैं।

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १४२ में इसप्रकार कहा है-

वि-ति-चउक्खा जीवा हवन्ति णियमेण कम्म-भूमीसु।

चरिमे दीवे अद्धे चरमसमुदे वि सव्वेसु॥ १४२॥

अर्थ- दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय और चौ इन्द्रिय जीव नियम से कर्मभूमि में ही होते हैं। तथा अन्त के आधे द्वीप में और अन्त के सारे समुद्र में होते हैं।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों के अनुसार विकलेन्द्रिय जीव ढाई द्वीप की समस्त कर्मभूमियों में तथा अन्तिम स्वयं भूरमण द्वीप के अर्ध भाग से लेकर स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त तक पाये जाते हैं। म्लेच्छ खण्ड कर्मभूमि के अन्तर्गत ही आते हैं। अतः समस्त आर्यखण्डों में, म्लेच्छ खण्डों में, विजयार्ध पर्वत की नगरियों में तथा विदेहक्षेत्र आदि में विकलत्रय जीव पाये जाते हैं।

मानुषोत्तर पर्वत के पर भाग से लेकर स्वयंभूरमण द्वीप के अर्ध भाग तक जघन्य भोगभूमि है, उससे यद्यपि विकलत्रय जीव नहीं पाये जाते हैं, परन्तु श्री धवला पु० ७, पृष्ठ ३९७ के अनुसार पूर्व वैरी के प्रयोग से भोगभूमि प्रतिभाग रूप द्वीपसमुद्रों में पड़े हुए तिर्यच शरीरों में त्रस

अयर्याप्तकों की उत्पत्ति होती है। अर्थात् कोई बैरी देव किसी पंचेन्द्रिय तिर्यच को भोगभूमि में ले जाकर पटक दे, तो उसके शरीर में विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती हुई देखी जाती है।

जिज्ञासा- विक्रियाऋद्धिधारी मुनि महाराज पृथक् विक्रिया कर सकते हैं या नहीं?

समाधान- टोडरमल स्मारक जयपुर द्वारा प्रकाशित सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३९८ पर गाथा नं० २६० की टीका में कहा गया है- 'भोगभूमि विषे उपजे तिर्यच व मनुष्य अर कर्मभूमि विषे चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया को भी करें है। इन बिना सर्व कर्म भूमियानि के अपृथक् विक्रिया ही है।' इस कथन के अनुसार चक्रवर्ती के अलावा पृथक् विक्रिया अन्य कोई कर्मभूमि का मनुष्य नहीं कर सकता अर्थात् विक्रिया ऋद्धिधारी मुनि भी पृथक् विक्रिया नहीं कर सकते हैं। परन्तु यह कथन आगमसम्मत नहीं है।

विक्रियाऋद्धिधारी मुनिराज एक साथ अनेक आकार बनाने की सामर्थ्य रखते हैं। राजवार्तिक ३/३६ की टीका में, कामरूपित्व ऋद्धि का स्वरूप इस प्रकार कहा है-

'युगपदनेकाकाररूपविकरणशक्तिः कामरूपित्व-मिति'

अर्थ- एक साथ अनेक आकाररूप विक्रिया करने की शक्ति का नाम कामरूपित्व ऋद्धि है।

तिलोयपण्णत्ति ४/१०३२ में इस प्रकार कहा है- जं हवदि अहिसत्तं अंतद्धाणाभिधाणरिद्धीसा।

जुगवें बहुरूवाणि जं विरयदि कामरूवरिद्धी सा॥ १०३२॥

अर्थ- जिस ऋद्धि से अदृश्यता प्राप्त होती है, वह अन्तर्धान नामक ऋद्धि है और जिससे युगपद बहुत से रूपों को रचता (बनाता) है, वह कामरूप ऋद्धि है।

उपर्युक्त आगम प्रमाणों से स्पष्ट है कि विक्रियाऋद्धि-धारी मुनि महाराज पृथक् विक्रिया करने की और एक साथ अनेक रूप बनाने की सामर्थ्य रखते हैं।

प्रश्नकर्त्ता- सौ० ज्योति लुहाड़े, कोपरगाँव।

जिज्ञासा- उद्वेलना किसे कहते हैं? उद्वेलना किन-किन कर्म प्रकृतियों की तथा किन जीवों के द्वारा की जाती है?

समाधान- उद्वेलना-संक्रमण की परिभाषा इसप्रकार है- 'जिस प्रकार रस्सी को बल देकर बँटा था, पुनः बँटा

को खोल दिया, उसीप्रकार जिन प्रकृतियों का पूर्व में बंध किया था, उनको फल अर्थात् उदय में आने से पूर्व ही अपकर्षण करके अन्य प्रकृतिरूप परिणामाकर नाश कर देना उद्वेलना संक्रमण है। जो जीव जिस समय उन प्रकृतियों को नहीं बाँध रहा होता है और ना ही उनको बाँधने की उस समय उसमें योग्यता होती है, उन ही प्रकृतियों की उद्वेलना होती है। उद्वेलना योग्य प्रकृतियाँ १३ हैं-

आहारकद्विक, सम्यक्त्वप्रकृति, सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति, देवद्विक (देवगति, देवगत्यानुपूर्वी), नरकद्विक, मनुष्यद्विक, वैकियिकद्विक (वैकियिक-शरीर वैकियिक आंगोपांग), उच्च गोत्र।

इन प्रकृतियों की उद्वेलना सामान्यतः मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं। विशेष इस प्रकार है- १. आहारक द्विक की उद्वेलना कोई भी संयमी मुनि, असंयम को प्राप्त होकर अन्तमुहूर्त में प्रारंभ कर देता है। और जब तक वह असंयत है, और जब तक सत्कर्म से रहित है तब तक उद्वेलना करता रहता है।

२. सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति की उद्वेलना कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्त होते ही प्रारंभ कर देता है।

३. देवद्विक, नरकद्विक तथा वैकियिकद्विक इन प्रकृतियों की उद्वेलना एकेन्द्रिय व विकलत्रय जीव करते हैं, क्योंकि उनके इन प्रकृतियों का न तो उदय है और न बन्ध होता है।

४. मनुष्यद्विक तथा उच्चगोत्र की उद्वेलना अग्निकायिक व वायुकायिक जीव करते हैं। क्योंकि उनके इन प्रकृतियों का न तो उदय है और न बंध ही संभव है।

विशेष जानकारी के लिए गोम्मटसार कर्मकाण्ड का उद्वेलना प्रकरण पढ़ने योग्य है।

जिज्ञास- सल्लेखना के भेद अच्छी प्रकार समझाइयें?

समाधान- उपर्युक्त जिज्ञासा का समाधान भगवती आराधना आदि ग्रन्थों के अनुसार यहाँ दिया जा रहा है।

सल्लेखना मरण तीन प्रकार का बताया गया है-

१. भक्तप्रत्याख्यान २. इंगिनी ३. प्रायोपगमन

१. भक्तप्रत्याख्यान- जिस सल्लेखना में अन्न-पान को कम करते हुए धीरे-धीरे छोड़ा जाता है, उसे भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं। इसका न्यूनतम काल अन्तर्मुहूर्त और

अधिकतम १२ वर्ष है। इसमें आराधक, आत्मा के अलावा समस्त पर वस्तुओं से रागद्वेष आदि छोड़ता है और अपने शरीर की सेवा स्वयं भी करता है और दूसरों से भी कराता है। जिस दिन बारह वर्ष का काल पूरा होता है, उस दिन के उपरान्त मरण पर्यन्त तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है। इसके दो भेद हैं-

१. सविचार भक्तप्रत्याख्यान- इसमें आराधक अपने संघ को छोड़कर दूसरे संघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है। यह सल्लेखना बहुत काल बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होने की हालत में विचारपूर्वक उत्साह-सहित धारण की जाती है।

२. अविचार भक्तप्रत्याख्यान- जिस आराधक की आयु अधिक नहीं है और शीघ्र मरण होने वाला है, तथा दूसरे संघ में जाने का समय नहीं है और शक्ति भी नहीं है, वह मुनि यह सल्लेखना ग्रहण करता है। इसके तीन भेद कहे गये हैं-

(अ) निरुद्ध- दूसरे संघ में जाने की पैरों में सामर्थ्य न रहे, शरीर थक जाये, अथवा घातक रोग, व्याधि या उपसर्ग आदि आ जाये और अपने संघ में ही रुक जाए, उस हालत में मुनि इस समाधिमरण को ग्रहण करता है। यदि उसकी सल्लेखना विख्यात हो जाती है तो प्रकाश कहलाती है और यदि विख्यात नहीं होती है तो अप्रकाश कहलाती है।

(आ) निरुद्धतर- सर्प, अग्नि, व्याध्र आदि पशु, व्यन्तर तथा दुष्ट पुरुषों आदि के द्वारा मरण समय उपस्थित हो जाने पर आयु का अन्त जानकर निकटवार्ती आचार्य आदि के समीप अपनी निन्दा, गर्हा आदि करता हुआ शरीर त्याग करता है, तो उसे निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान समाधिमरण कहते हैं।

(इ) परमनिरुद्ध- सर्प, सिंह आदि के भीषण उपद्रव आने पर वाणी रुक जाये, बोल न निकल सके, ऐसे समय में मन में ही अरहन्तादि पंचरमेष्ठियों के प्रति अपनी आलोचना करता हुआ साधु शरीर का त्याग करता है, उसे परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान सल्लेखना कहते हैं।

(उ) इंगिनी- जिस संल्लेखना में क्षपक अपने शरीर की परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरों से नहीं कराता है, उसे इंगिनीमरण कहते हैं। इसमें क्षपक स्वयं ही उठता है, स्वयं ही बैठता है, स्वयं ही लेटता है और अन्य समस्त कियार्हें स्वयं ही करता है।

(ऊ) प्रायोपगमन- जिस सल्लेखना में क्षपक अपनी सेवा परिचर्या न तो स्वयं करता है, न अन्य से कराता है, उसे प्रायोपगमन कहते हैं। इस सल्लेखना में क्षपक शरीर को लकड़ी की तरह छोड़कर आत्मा की ओर ही लक्ष्य रखता है और निरन्तर आत्मध्यान में रत रहता है। यह सल्लेखना अंतिम अवस्था में पहुँचने पर ही प्रबल संहननधारियों के द्वारा ग्रहण की जाती है।

प्रश्नकर्त्ता- आनन्द कुमार जैन, आगरा।

जिज्ञासा-आजकल मोबाइल जेब में रखना अति आवश्यक हो गया है, यदि दर्शन करते समय या स्वाध्याय गोष्ठी में कभी घंटी बज जाए तो क्या पापबंध का कारण है?

समाधान- अपनी जेब में मोबाइल रखना वास्तव में उतना आवश्यक नहीं है, जितना हमने मान लिया है। हम इतने वेसब्र हो गए हैं कि मंदिर में दर्शन करते समय, जाप देते समय, प्रवचन सुनते समय, तथा स्वाध्याय करते समय भी अपना मोबाइल बंद नहीं रखना चाहते। देखा जाता है कि जाप देने वाले कुछ लोग जाप देते हुए बीच में ही, जाप देना छोड़कर पूजा करने वाले पूजा बीच में ही छोड़कर मोबाइल सुनने लग जाते हैं, जो महान् कर्मबन्ध का कारण है। आप स्वयं सोचें, जब आपके मोबाइल की घण्टी बजने लगी है, तब क्या उसको सुनकर मंदिर में दर्शन या पूजन करनेवाले अन्य जीवों का मन उधर से हटकर आपकी घंटी की ओर आकर्षित नहीं होता है? क्या स्वाध्याय करते समय जब मोबाइल की घंटी अचानक बज उठती है, तो सभी स्वाध्याय करनेवाले जीवों का स्वाध्याय करने में व्यवधान नहीं होता है? क्या प्रवचन सुनते समय यदि घंटी बज जाए, तो निकट बैठे हुए पच्चीस-पचास लोगों का ध्यान प्रवचन से हटकर आपकी ओर नहीं हो जाता है? इन सबका उत्तर आप स्वयं यही दे पायेंगे कि वास्तव में ऐसा होता तो है। जब मोबाइल बज उठता है, तब अपने साथ अन्य सभी को पूजा-स्वाध्याय आदि में व्यवधान होता ही है। इस तरह यदि हम अन्य के धार्मिक कार्यों में व्यवधान करते हैं, तो दूसरे के कार्यों में विघ्न डालने से महान् अन्तराय कर्म का बन्ध होता है, साथ ही ज्ञानावरण आदि कर्मों का महान् बन्ध होता है। देव-शास्त्र-गुरु की महान् अविनय होती है, जिससे महान् अशुभ कर्मों का बन्ध होता है।

अतः उचित तो यही है कि हम धार्मिक कार्यों में जब जायँ तब मोबाइल न ले जाएँ। यदि ले भी जाएँ तो उसे बंद रखें ताकि महान् अशुभ कर्मों का बंध न हो।

वर्तमान में अन्य मत के मंदिरों में मोबाइल लेकर प्रवेश नहीं करने दिया जाता है। जैसे देहली के पास नोएडा में जो अक्षरधाम नामक विशाल मंदिर बना है, उसमें प्रवेश करते ही मोबाइल दरवाजे पर ही जमा कराना होता है। पूछने पर वे कहते हैं कि यदि मोबाइल साथ रखेंगे तो एकाग्रता नहीं रह सकेगी। जब अन्य मत के लोग इस प्रकार सोचते हैं, तो अन्तराय आदि कर्मों के बंध की प्रक्रिया जानने वाले हम जैनों को तो इस प्रकरण पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

जिज्ञासा- विभिन्न तीर्थस्थानों पर क्षेत्र की वंदना करते समय रास्ते में जमीन पर उस रास्ते के निर्माता के नाम के पत्थर लगे हुए दिखाई देते हैं। जैसे सोनागिर जी में पर्वतवंदना के मार्ग में जब वंदना करनेवाले के पैर इन पर पड़ते हैं, तो पाप लगता है या नहीं?

समाधान- दान देने का सही मार्ग तो यह है कि दान दिया जाये और अपने नाम की भावना न रखी जाए। परन्तु आजकल दान देनेवाला पहले यही पूछता है कि हमारे नाम का पाटा लगेगा या नहीं? यदि उसका उत्तर नहीं में होता है, तो दान देनेवाला, दान नहीं देता है। बहुत से स्थानों पर पाटिये न लगने के कारण झगड़े भी होते हुए देखे जाते हैं। उचित तो यही है कि पाटे लगाने की परम्परा बंद हो जाए। मैंने सोनागिर जी की वंदना बहुत बार की है और उसमें पर्वत की वंदना मार्ग पर लगे हुए पाटियों को भी देखा है। इन पाटियों पर वीर निर्वाण संवत् या अन्य मंगलसूचक शब्द भी लिखे रहते हैं। सच पूछा जाये तो ये सभी अक्षर द्रव्यश्रुत के अन्तर्गत आते हैं। यदि इन पर अपने पैर पड़ते हैं तो द्रव्यश्रुत की महान् अविनय होती है। मैंने विभिन्न मुनिराजों के मुख से सुना है कि अखबारों के ऊपर बैठना या उन पर खड़े होना महान् द्रव्यश्रुत की अविनय का कारण है। विभिन्न मंदिरों के दरवाजों पर प्रवेश करते ही ऐसे पाटिये जमीन पर लगे हुए दिखाई पड़ते हैं। ये सब द्रव्यश्रुत की अविनय के प्रसंग हैं।

इस महान् अविनय से बचने के लिए जहाँ-जहाँ पैर रखने के स्थानों पर अक्षरसहित पाटिये लगे हों, उनको या तो दीवार पर लगा देना उचित है अथवा हटा देना उचित है। ऐसे वंदनामार्गों पर इन लिखे हुए पाटियों के स्थान पर प्लेन पत्थर लगा दिए जायें, तो सुन्दरता भी बनी रहेगी और अविनय से भी बचा जा सकेगा।

१/२०५, प्रोफेसर्स कॉलोनी
आगरा-२८२ ००२, उ० प्र०



मुनि श्री क्षमासागर जी की कविताएँ

निशाना

जब भी मैंने
किसी और को
निशाना बनाया
और अपने
जीतने का
जश्न मनाया
मैंने पाया, मैं ही हारा,
अनजाने ही
मेरा तीर
मुझसे टकराया
शिकार मैं ही बना
और कई रोज तक
कराहती रही
मेरी घायल चेतना।

अहसास

हमने यहाँ
एक-एक चीज
और अपने बीच
वासनाओं के
नित-नवीन/रंगीन
परदे डाल रखे हैं
कि रोज
कुछ नया लगे
जिन्दगी
भ्रम में गुजर सके
और

बासेपन का अहसास
हमें
विरक्त न कर सके।

कुछ भी नहीं

प्यासा मृग
मरीचिका में उलझा
और तड़प उठा
हमने कहा-
बेचारा मृग।
स्वाद की मारी मीन
काँटे-में-उलझी
और मर गयी
हमने कहा-
अभागी मीन॥
एक पतंगा
दीपक की
जोत पर रीझा
और झुलस गया
हमने कहा-
पागल परवाना।।।
वाह रे हम।
अपनी प्यास
अपनी उलझन
और अपने
दीवानेपन पर
हमें अपने से
कभी कुछ भी
नहीं कहना।

'पगडंडी सूरज तक' से साभार



मुनि श्री योगसागर जी की कविताएँ

१

हे आत्मन्
ये तन नूतन नहीं
है इस में
परिवर्तन
क्यों इतना
यतन-जतन और कीर्तन
तू मान रहा है रतन सा
पर यह तो
भग्न घर सा।
है इसका अंत में पतन

२

आत्मा की टोकरी में
मीठे-मीठे अँगूर सड़ते जा रहे हैं
शराब बनती जा रही है।
उस शराब के पान में
यह पतित आत्माएँ
दिन रात निमग्न हैं

३

चंद दिन की
जिंदगी में
प्यार का बिगुल बजाओ
तमाम अरमान मिटा के
गले से गले लगाओ

४

शकल
दिल की नकल
करती है
अरे भाइयों
यही एक अंतद्वन्द्व की
पहचान है

५

हे भाई!
व्यंग का
रंग-ढंग और
अंग
भुजंग सा है
जिसके दंश से
क्रोध का जहर
चढ़ता है
और
बैर की मूर्च्छा
भव-भवांतर में
चली जाती है।

प्रस्तुति - प्रो० रतनचन्द्र जैन